पगलयरग

उमाकान्त मालवीय

श्री उमाकान्त मालवीय

जन्म—बम्बई, २ अगस्त, १६३१

शिक्षा—प्रयाग विश्वविद्यालय से स्नातक

प्रकाशित पुस्तकें :

१. मेंहदी और महावर [गीत-संग्रह; उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत]
२. बाजी रणभेरी [राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह]
३. देवकी [अकथात्मक खण्ड-काव्य]
४. ममता [,, ,, ,,]
५. माँ [खण्ड-काव्य]
६. अभिशप्त अमर बेलि [प्रतीक खण्ड-काव्य]
७. रक्त-पथ [काव्य-रूपक]
८. शिवाजी [खण्ड-काव्य]
९. प्रताप [खण्ड-काव्य]
१०. रक्षाबंधन [खण्ड-काव्य]

प्रकाशकीय

'युगल चरण' उस लेखनी की जीवन्तता का प्रमाण है जो गीतों के अतिरिक्त स्व० उमाकान्त मालवीय के निबन्ध-विधा के अविस्मरणीय कृतित्व का परिचायक है। निबन्धों में उनका कवित्व, पौराणिक समृद्धि, सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्नता तथा विनोद-भाव अनेक रूपों में समाहित है। साहसिक ढंग से अपनी बात कहने तथा उनको ललित रीति से प्रस्तुत करने में वे अपने व्यक्तित्व की जो क्षमता प्रकट करते रहे हैं, वह युवा-पीढ़ी के लिए अनुकरणीय एवं प्रेरक होगी, ऐसा मुझे लगता है। साहित्यिक तथा इतर गोष्ठियों में वे अपनी छाप स्वयं छोड़ते रहे हैं। हिन्दी के संघर्ष में अपनी भागीदारी वे सदा निभाते रहे, क्योंकि भाषा के प्रश्न को वे स्वतन्त्रता-संग्राम का ही एक अंग मानते रहे।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी के द्वारा उनके अवसानोत्तर प्रकाशन का यह सन्दर्भ उनकी स्मृति को सहेजने और साहित्यिक जगत् तक उसे सुलभ कराने में यत्किंचित् सहयोग दे पा रहा है, यह उसका पुनीत कर्तव्य है। चिरंजीव 'यश' ने उनकी पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित पत्रिकाओं से एकत्र करके कृति को वर्तमान रूप दिया, अतः वह मेरे और उनके आशीष का अधिकारी है।

आशा है यह प्रकाशन हिन्दी में विशेष रूप से समादृत होगा।

जगदीश गुप्त
सचिव

पुण्य स्मरण

'युगल-चरण' के प्रकाशन के अवसर पर मेरे दृष्टिपथ पर तिर रहे हैं पिताश्री उमाकान्त मालवीय के वे चरण, जिन्हें मैं बराबर प्रणाम करता आया हूँ। अभी भी उनके निबन्ध का 'साँवला-सलोना चँदोवा' जब भी मेरे आँगन पर तन जाता है, मैं अपने शीश पर वत्सल पिता के आशीर्वाद की छतनार छाँह महसूस करता हूँ।

ललित निबन्धों की रचना करते-करते अब वह स्वयं ही ललित निबन्ध हो गये हैं। उनकी रचनाएँ पढ़ने पर बरबस ही स्नेह की गंगा से अन्तर का अभिषेक होता है और उनके स्मरण का अविराम संकीर्तन मन-प्राण के भीतर किसी मांगलिक उत्सव की तरह सम्पन्न होता है।

यह कृति प्रकाशित हो रही है, लगता है हरियाली ही बन-ठनकर पीहर आ रही है और हम सब उस अदृश्य खुशबू की अगवानी में प्रतीक्षित खड़े हैं। या, कभी-कभी लगता है, एक लम्बे अरसे के बाद पिताश्री यात्रा से लौट रहे हैं और हमें इस ग्रन्थ के रूप में मिल रहे हैं जिसमें उनकी धड़कती हुई साँसें हैं, स्पंदित जीवन है। क्योंकि उन्होंने ही कहा है—

"मेरे यार! मेरे हमदम! मेरे दोस्त! मेरे बाद मेरे लिए रोना नहीं, मेरी पंक्तियों में मुझे देखना, वहाँ तुम्हें मेरी नरम-गरम साँस मिलेगी, उसी में मुझसे मिल बैठना, मेरे शब्द तुमसे गप लड़ायेंगे, चुहल करेंगे।"

कृतज्ञता से बड़ी कोई पूजा-प्रार्थना नहीं होती। अन्त में मैं कृतज्ञ हूँ एकेडेमी के अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा, सचिव डॉ० जगदीश गुप्त और सहायक सचिव डॉ० रामजी पाण्डेय का, जिनके कारण मुझे यह खुशी नसीब हुई।

—यश मालवीय

'रामेश्वरम्'
ए-१११, मेंहदौरी गृहस्थान
इलाहाबाद-४

विषय-सूची

एक साँवला-सलोना चँदोवा मेरे आँगन पर

मेरे आँगन पर एक सुरमई चँदोवा तना हुआ है। मुझे इतनी पहचान तो नहीं है कि मैं कविकुलगुरु कालिदास के समान उनके वंश, परिवार, कुल का परिचय देते हुए कहूँ—मुझे नहीं मालूम कि यह बादल पुष्कर कुल के हैं अथवा आवर्तक कुल के, पर जो भी हैं, भले लगते हैं। मन करता है, इन्हें, इनकी जामुनी छवियों को आँखों में आँज लूँ। हर साल यही होता है। धूप मेरी देह में चुटकी बोती है। चुटकी तक तो सह्य है, परन्तु जब उसका दंश बढ़ने लगता है, इत्ता कि लगे अब चुटकी नहीं पिन, पिन ही नहीं बर्छी चुभोयी जा रही है, तो असह्य हो उठता है। मैं लक्ष्मी का लाड़ला वह गज तो नहीं हूँ जिसके मस्तक पर अंकुश ही चुभाया जाना उसके नियंत्रित रूप से चलने की अनिवार्य शर्त है। हाँ, तो जब वह दंश दुस्सह हो चलता है, तब मेरे कण्ठ में एक आर्त-कातर टेर खुद-बखुद मेरे भीतर से उभर कर आ बसती है और अधर तक आती-आती अधीरा वाचाल-मुखरा हो उठती है। तब करुणार्द्र घन मेरे आँगन पर इसी तरह झुक आते हैं। यह प्रतिवर्ष होता है। यह इतना रुटीन-सा हो गया है कि धीरे-धीरे मुझे अपनी पुकार पर, अपनी टेर पर एक गुमान हो चला है। सोचता हूँ तो मन-प्राण कृतज्ञता से भर उठते हैं। यह गुमान उसके चलते ही है, वह मेरे भरोसे की रक्षा करता है, वह मेरे आँगन पर उमसता है, उमड़ता-घुमड़ता है, गरजता है, बिजलियाँ चमकाता है, घिरता है, प्यार से झुक आता है और फिर टूटकर बरस जाता है, ताकि मेरे प्राणों का दंश बुझे, ताकि मेरे रोम-रोम, पोर-पोर, शिरा-शिरा, धमनियाँ जुड़ाएँ।

सोचता हूँ आँगन और आँगन की चर्चा कब तक चल पायेगी ? घर अहर्निश आँगन को कुतरता जा रहा है। फ्लैट्स ने तो आँगन की परिकल्पना तक को पूरी तरह निगल लिया है। आँगन, मेरे लिए घर के भीतर का खुलापन है, वह घर का खुलाव और खिलाव है। तो क्या घर के भीतर का यह खुलापन, उसका खुलाव और खिलाव बन्द हो जायेगा ? इसके आगे की, मैं सोच नहीं पाता।

हाँ, तो यह एक सालाना मंजर है। साल-दर-साल यह मंजर अपने को दुह-राता है, तथापि उसकी ताजगी में कोई अंतर नहीं पड़ा, दूर-दूर तक फिलहाल अभी कोई बासीपन मैं उसमें नहीं तलाश पाया हूँ। प्रतिवर्ष मैं खिड़की से लगा,

उस पर टँगी रिमझिम की झालर देख रहा होता हूँ। दरवाजे पर फुहार की बंदनवार टँगी झूम रही होती है। एक मांगलिक परिवेश, एक शुभ, एक शिव संदर्भ मुझे अपने आगोश में लिए होता है। इतने में अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी का प्रवेश होता है। उनके चेहरे पर एक निरुपायता है, मेरी आँखों में एक प्रश्न स्वत: उग आता है। बिना पूछे वे बतलाती हैं, "धूप तो काले कोस जा बैठी है, घर के कपड़े कैसे सूखें ?" मैंने कहा, "परेशान क्यों होती हो ? धोबिन तो कपड़े ले आयी होगी ?" उत्तर में धोबिन पेश कर दी जाती है। उसकी भी वही असहायता है। मेरे सामने धोबिन और मेरे चिरंजीव की माँ असहायता अथवा निरुपायता के एक ही सोपान पर खड़ी दीखती हैं। धोबिन चिन्तित है, ग्राहक नाराज होगा। वे परेशान हैं कि मैं और बच्चे क्या करेंगे ? धोबिन को देखा तो मेरे जेहन में एक और धोबिन उभरी जिसको ताड़ना देते हुए धोबी ने राम के विरुद्ध एक प्रवाद ही खड़ा कर दिया था। एक धोबिन थी जिसके पति को नूरजहाँ का तीर लग गया था और वह जहाँगीर के दरबार में इन्साफ के लिए फरियाद लेकर उपस्थित हुई थी। उस धोबिन ने जिसे हम रामिन के नाम से जानते-पहचानते हैं, महाकवि चण्डीदास को अनन्य-अप्रतिम प्रेरणा दी। राधा एवं परकीय प्रीति के गुह्यतम रहस्य की याद महाकवि को रामिन के माध्यम से ही मिल पायी। एक धोबिन थी वह, मैडम सिमसन, जिसके लिए अष्टम एडवर्ड ने अंग्रेजी साम्राज्य के सिंहासन को तृणवत् छोड़ दिया था। क्या वह देह से गुजरता हुआ, देह का अतिक्रमण कर गया एक दिव्य प्रेम नहीं था जिसके समक्ष राज्य-सिंहासन भी तुच्छ लगे ? उस प्रेम-सगाई को उन दोनों ने जीवन-पर्यन्त निभाया।

यह अपनी उसकी मड़ैया है जहाँ एक अजीब नमी और सीलन घर कर गयी है। सीलन की क्या कहें, वह तो हमारी आत्मा के इस्पात में भी मोर्चे लगा जाती है। इसका टुटहा छप्पर क्या है, वह एक टुच्चा नौकरशाह है। आसमान एक बूंद बरसता है तो वह दस बूंद बरसता है; आसमान बरसना बंद भी कर देता है तो वह दो घण्टे बाद तक टपकता रहता है। इस छप्पर के चलते कोठरी आँगन होकर रह गयी है। यह इन्साफ़ कुछ समझ में नहीं आता। भाई अमरनाथ जी के शब्दों में कहूँ तो—

मयखाने के ऊपर है सूरज की नजर टेढ़ी,
आँगन पे कुम्हारों के बादल हैं तो बादल है।

तभी भीतर अतल-तल से एक भरोसा उभरता है। हर काले बादल में रुपहली गोटा-किनारी होती है, 'एव्री क्लाउड हैज ए सिलवर लाइनिंग।' अभी कल की ही तो बात है। सीलन-भरी माचिस पहले तो जलती ही नहीं, किसी तरह राम-राम करके या अल्ला-अल्ला खैर सल्ला जली भी तो सील गयी लकड़ियों का जलने से एकदम इन्कार।

कोई मुरौवत अथवा मुलाहजा नहीं, कोई रियायत नहीं। सारे वातावरण के संदर्भ में यह एक सवाल है, 'सील गयी धुधुवाती आग में ज्वालाएँ फूटें तो कैसे ?' जो स्वयं में बहुत अहम् है। चौका धुआँता रहता और घरौतिन की आँखें हैं कि चूल्हा फूँकते-फूँकते एकदम ललछर डबडबायी हुई। भोज-प्रबन्ध में एक नायिका की इसी प्रकार चूल्हा फूँकते-फूँकते आँखें ललछर पुरनम हो आयी हैं। कवि अग्नि को संबोधित कर कहता है—'कैसे निर्दयी हो तुम ? कितने क्रूर और निर्मम ? देख रहे हो सुन्दरी की यह अरुणाभ भीगी आँखें ? तुम्हें बिलकुल दया नहीं आती ? तुम जलते क्यों नहीं ?' अग्नि उत्तर देता है, 'तुमने केवल सुन्दरी के अरुणिम गीले नेत्र ही देखे ? कवि, तुमने यह नहीं देखा कि उसकी सुरभित, सुवासित श्वास का पान करने के लोभ में मैं खुलकर नहीं जलता, बल्कि धुआँ देता हूँ, तिल-तिलकर शनैः-शनैः जलता हूँ, यह अपार कष्ट झेल रहा हूँ।'

आज अम्मा का कथन याद आ रहा है। रावण हो क्या, बिना धुआँ की आग चाहते हो ? मुझे नहीं मालूम हम रावण हुए या नहीं, मगर गैस के चूल्हे के कारण बिना धुआँ के आग सम्भव हुई। हम रावण भी हुए तो बला से, गृहिणी को आराम तो हो गया।

एक ही तो व्यसन है, पढ़ना। मनचाही पुस्तकें खरीदना और पढ़कर सहेज-कर उन्हें अपने पास रखना। इफरात पैसे तो हैं नहीं, इस एक व्यसन के लिए। किसी तरह पेट काटकर किताबें जुटाते हैं। कुछ माँगने वाले हैं जो पुस्तकें माँगते तो हैं, परन्तु फिर उन्हें लौटाने की गलती नहीं करते। ठीक तो है, वे आपसे पुस्तकें ले जाते हैं, उन्हें पढ़ते हैं, अपना कीमती वक्त आपको अता फरमाते हैं और आप हैं कि उनका एहसान भी नहीं मानते। एक गलती आपने की, आपने पुस्तकें दीं, दूसरी गलती पुस्तकें लौटाने की वे क्यों करें ? आपकी पुस्तकें उन पर भार तो हैं नहीं, न ही वे जंगलों में पड़ी हुई हैं। इसके बाद सितम यह कि जो पुस्तकें बच रहती हैं, प्रतिवर्ष बारिश में सीलन और नमी हमारी खून-पसीने की कमाई से एकत्र की गयी पुस्तकों को दीमक की जबान बढ़ाकर चाट लेती है और हम हाय करके रह जाते हैं। नहीं चाहता कि पावस, इस संदर्भ में तुम्हारे प्रति मेरे मन में कोई शिकायत उभरे, पर यदि उभर ही आती है, तो तुम्हीं बतलाओ मैं क्या करूँ ? इधर बरसात शुरू हुई कि पुस्तकों की क्षेम-कामना की अँगुलियों में चिन्ता के नाखून निकल आते हैं और वह भीतर-ही-भीतर खरबोटने लगते हैं।

बड़ा भला लग रहा था जब गली के बच्चे बरसाती पानी पर अपनी कागज की नाव तैरा देते थे। जब वे 'काले मेघा पानी दे, पानी दे गुड़ धानी दे, या रब पानी दे' की अलख जगाये उछल-कूद रहे थे और तभी जब बादलों ने अभी बूँदें

छोड़ी ही थीं कि अलख का स्वर बदला, 'बरसो राम पके धनिया, खायँ किसान जियै बनिया' अथवा 'बरसो राम पड़ाके से, बुढ़िया मर गयी फाँके से' । बुढ़िया का फाँके से मरना क्या बच्चों के लिए विनोद की बात बन सकती है ? यह सोचकर जाने क्यों जायका कसैला हो गया तथापि यह उछलते-कूदते बच्चे ! ये बच्चे जब कल भले लग रहे थे तो फिर आज उदास क्यों हों ? जी हाँ, उदास होने की बात तो है । एक को शरारत की हरारत-जुकाम है तो दूसरे को फुड़िया-फुंसी ने घेर रखा है । एक को बरसाती की जरूरत है तो दूसरे को छाते की। दवाएँ लाओ तो, बरसाती छाते लाओ तो, हुआ न यह एक अतिरिक्त व्यय, गरीबी में आटा गीला ।

वह चमचमाती कार अपनी तहजीब का इजहार करती, उस पैदल की गैरत पर कीचड़ उछालती हुई सर्र से निकल गयी । वह बेबस-सा खड़ा देखता रहा। शिकायत करता भी तो किससे ? उसका उलाहना, उसकी शिकवा-शिकायत, गिला सुनने वाला वहाँ कौन बैठा था ? पानी में भीग गये दाढ़ी कँपाते यह बकरे और पानी के गढ़े में आँख मूँदे ध्यानावस्थित यह भैंसें, इनसे शिकायत करें ? यह भले ही कोई निदान न दें, धैर्य से सुन तो लेंगे । औरों की तरह मजाक तो नहीं उड़ायेंगे ? दुत्कार तो नहीं देंगे ?

पावस शुरू हुआ और पत्रिकाओं में वर्षा-गीतों के काफिले बिलबौटियों की मानिन्द चल निकले । किसी इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ दें तो यह सारे-के-सारे गीत यांत्रिक रूप से प्रस्तुत वेदर रिपोर्ट ही होते हैं । कोई गीत बादल की तरह नहीं उठता, कोई गीत फूल की तरह नहीं खिलता । कोई गीत 'दुखती है नदिया की देह' इस शिद्दत से बादल को नहीं टेरता । किसने देखा है ? किसे फुर्सत है, रोज की आपाधापी से, और अगर फुर्सत है भी तो किसे रुचि है जो निहाल होकर इसका नजारा करे कि बादलों के विस्तार के बाद नदियों की दोशीजगी निखर आयी है ! सबके अपने-अपने कोटर हैं, सबके अपने-अपने घोंघे हैं, सबके अपने-अपने रेत के ढूह हैं जिनमें वे सर छुपाये स्वयं को सुरक्षित समझने का भ्रम पाले हुए हैं । किसे पड़ी है कि वह यह तलाशने की तकलीफ गवारा करे कि जब गोसाईं जी ने 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रिया हीन डरपत मन मोरा' लिखा था तो वस्तुतः सीता के वियोग में राम का नहीं, वरन् रत्ना के वियोग में स्वयं तुलसी का मन 'डरप' रहा था ।

नदियों की दोशीजगी का निखरना और दुखती नदिया की देह, उन्हें मुबारक हो जिन्होंने इसका नजारा किया हो, मगर जब 'क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई' की नौबत आती है तो किसने देखा कि किसकी मड़ैया ढह गयी ? किसके गोरू बह गये ? कौन बेघर-बार हो गया ? बाढ़ किन-किन बीमारियों का तोहफा लेकर आयी ? किसने बाढ़ का हवाई निरीक्षण किया ? किसने बाढ़पीड़ित इलाकों में पिकनिक

की, दृश्यावलोकन किया ? बाढ़पीड़ितों की लाचारी, उनकी बेचारगी का इश्तहार, उनका व्यापार किया गया, उनके लिए मिट्टी के तेल, कपड़े, दवाएँ, राशन इकट्ठे किये गये और वे कहाँ-से-कहाँ चले गये ? कुछ लोगों ने सचमुच जी-जान से सेवा की, मन उनके प्रति आभार से भर आता है और शीश आदर से नत हो जाता है ।

मैं क्या देखूँ ? क्या सहेजूँ ? जब इधर देखता हूँ तो वह छूट जाता है जिसे नहीं छूटना चाहिए और जब उसे सहेजता हूँ तो नाक के नीचे हकीकतें छूट जाती हैं, इन्हें भी नहीं छूटना चाहिए, क्या करूँ ?

पावस में सुधियों की फसल हरी होती है,
गला भरा होता है, आँख भरी होती है ।
पुरवइया में पिछली चोट उभर आती है,
ऐसे में तबीयत कुछ डरी-डरी होती है ।

वह धरती जो कल जेठ की सुलगती दोपहर से चिहरा गयी थी, उसके घाव पुर गये हैं । उसकी मिट्टी में एक सोंधापन रस-बस गया है । उस सोंधेपन को हम अपने पसीने की लुनाई से और सम्पन्न कर सकें ताकि उसकी हरीतिमा और शोख तथा चटख हो । अपने सात रंगों के गुमान पर आसमान में इन्द्रधनुष इतरा रहा था, तब तक जंगल में थिरकते मयूर ने उसके मुकाबले में अपना एक पंख हवा में उछाल दिया । सुरधनु झेंपकर झुक आया ।

अभी थोड़ा-सा बरसा, अभी ऐसी कड़ी धूप हुई कि वह ठण्डक, वह तरलता सब-कुछ भाप की तरह उड़ गयी । यह तो कोई बात न बनी, ऊमस बढ़ी और अमौरियों ने चुनचुनाना शुरू किया—

मानसून के बादल यह खानाबदोश-से,
आँगन पर जो अभी-अभी कल तक छाये थे,
धूप चिलचिलाती है, सर पर आग बरसती,
आज कहाँ है, बड़े मीत बनकर आये थे ?

'अभी झड़ी लगी और जम गयी तो मेरी पड़ोसिन खिसियायी, 'ऐ मरा ई, फिसिर-फिसिर पानी, न मरै न माचा छोड़ै, जान तो उबियाय गयी ।' यह रही अहियापुरी ठेठ-ठुर्रस प्रतिक्रिया और यदि थोड़ा मुलम्मे में यकीन करते हों तो नायिका आग्रह करती है—

तुम दूर देश से चलकर आये हो बादल,
कुछ देर जरा ठहरो, थमकर आराम करो,
ऐसी भी क्या जल्दी है, अभी बरसने की,
वे बाहर हैं, उनको घर तो आ जाने दो ।

कहीं कजली, तो कहीं मल्हार, कहीं पेंग-भरे झूले, कहीं आल्हा की फड़कती स्वर-लहरी। अभी-अभी बादल निकला है, ताल पर मेढकों की टर्र-टर्र, 'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई, वेद पढ़ैं जनु बटु समुदाई'। दादुर धुनि का स्मरण आया तो समर्थ गुरु रामदास और छत्रपति शिवाजी से सम्बन्धित एक बोधकथा का संदर्भ याद आ गया।

शिवाजी समर्थ गुरु रामदास को बतला रहे थे, अभी यह नया किला बनवाया है, अभी अमुक किले की मरम्मत करवायी। समर्थ गुरु रामदास ने यह लक्ष्य किया कि शिवाजी में कर्ताभाव का अहंकार फूत्कार दे रहा है। शिष्यवत्सल गुरु ने उस अत्यल्प गर्व के मूलोच्छेदन का निश्चय किया। पहाड़ी से उतरते हुए गुरु ने एक शिला पर घन-प्रहार करने का संकेत किया। साथ के मजदूरों ने तुरन्त आज्ञा का पालन किया। पोली शिला दरक गयी। भीतर गढ़ा था। उस एक गढ़े में जल भरा था जिसमें मेढक के बच्चे क्रीड़ा कर रहे थे, 'वाह शिवा! तूने इनका भी इंतजाम कर दिया है।' शिवाजी समझ गये गुरु समर्थ का व्यंग्य किस ओर है। उन्होंने गुरु के चरण पकड़ लिये।

वह, जो अपनी नयी-नवेली वधू को छोड़कर शहर की मिल में काम पर जाने को मजबूर है। वह, जो हास्टल में पड़ा है और अभी-अभी द्विरागमन में उसकी वधू उसके घर आयी है। वह, जो नौकरी पर कहीं अलग पड़ा है और उसकी प्रिया नौकरी के ही संदर्भ में दूर जा पड़ी है। यह सब-के-सब अपने-अपने रामगिरि पर निर्वासित यक्ष हैं। उनकी प्रिया अपनी अलका में विरह-योग का अलख जगाये आँसुओं में रिस रही है, उन्हें किसी महाकवि कालिदास के प्राणों की करुणा का सहारा नहीं मिला, इनके नसीब में मेघदूत नहीं था।

शिखरों से नीचे उपत्यकाओं में नील मेघ उतर आये हैं। मेघों की साँवली रोमिल कलाइयों पर सौदामिनी रक्षाबन्धन-सूत्र की तरह दिप उठती है। ऊपर सुरमई मेघ, नीचे हरीतिमा। सुरमई सिलेटों पर छंद सुआपंखिया। पुरवा क्वाँरी ननद की तरह पनघट-पनघट भावजों के आँचलों से छेड़छाड़ करती कुदक्कड़ें मारती फिर रही है। वह, जो सारी रात खिड़की पर खड़ा रहा, फुहारों की रेशमी कनी चेहरे पर झेलता रहा, उसके नीलमी नभ-से लोचन में एक मासूम स्वप्न घन-शावक की तरह सारी-सारी रात तैरता रहा। परिवेश ही ऐसा था, बूँदा-बाँदी। सोमवाही शिराएँ, धमनियाँ, जब कमलतन्तु बाँहों ने घेरा तो सारे-के-सारे मान मोम हो गये। मोरपंखी घन की छाँव में जब युगलजन आ बैठे, उस समय घन का बरसना उसमें साथ मिलकर भीजने और पारदर्शी अंग-छवि पर रीझने का मन हो जाये तो अचरज कैसा? हरे-हरे रूमाली पत्तों के हरे-हरे वामदों में एक

आश्वासन और एक आमंत्रण है। कौन है जो उस आमंत्रण को स्वीकार पाता है ? कौन है जो उस आश्वासन को सहेज पाता है ?

बहनें मायके लौटने को तत्पर हैं, उनकी सुधि में बीरन महक रहा है। क्या करें वे ? एक ओर ससुराल में रहें तो बीरन की सुधि की महक, दूसरी ओर पीहर में प्रियतम की यादों की चहक। इस प्रकार सुधियों की चहक-महक, उनकी रस्साकशी में बुरा हाल होता है उनका।

ऋग्वेद संहिता के ऋषि की प्रार्थना में असर था, मेरी प्रार्थना में वह असर क्यों नहीं पैदा होता ? भीतर जरूर कुछ खोट है। हे पर्जन्य ! हे आयः ! हे वृत्र ! हे इन्द्र ! हे जल ! मेरे खोट के लिए मेरे घर, मेरे देश, मेरी धरती को दण्डित मत करो। ऐसा कुछ करो कि तुम्हारा प्रसाद जन-जन पायें। सभी सुखी हों, सभी सम्पन्न हों, समृद्ध हों। हाँ, इनके बाद फिर मेरा खोट धो देना जो तुम्हारे लिए मुश्किल नहीं है, मुझे भी कृतार्थ करो। चेहरों पर दरक आयी झुर्रियाँ बुझें, पीलापन उतर जाये और एक लोनी-लोनी हरियाली उग आये। सुना है और भरोसा भी है, प्रार्थना अनुत्तरित नहीं जाती। तुम मेरी सुनोगे, और जरूर सुनोगे।

●

युगल चरण : एक खुला धर्मग्रन्थ

बड़ों को, गुरुजनों को प्रणति देना, उनके सहज ही चरण स्पर्श करना, मेरे संस्कारों की एक बड़ी प्यारी मजबूरी रही है। आदतन चरण छू लेना एक मशीनी क्रम होता है। बहुत कम ऐसा होता है जब हमारे भीतर प्रणम्य के प्रति एक आदर का, एक श्रद्धा का मौसम सिरजता हो; जब हम अपनी सम्पूर्ण अस्मिता को सँजो कर, अपनी समस्त चेतना, आदर, श्रद्धा और निष्ठा के साथ आदरेय को अपनी प्रणति निवेदित करते हों और इस क्रम में सम्पूर्ण अस्तित्व ही नैवेद्य हो जाता हो।

कदाचित्, ऐसा ही कोई क्षण रहा होगा वह, जब अभी कल ही बड़े भैया के चरणों में मैंने अपन माथा टेका था। उन क्षणों में अथवा उस क्षण, युगल चरण एक खुले हुए धर्मग्रन्थ-से लगे थे। पन्ने-दर-पन्ने खुलने लगे थे।

यही तो है वह चरण, जिसका चिह्न विष्णु ने अपने वक्ष पर सँजो लिया था। पूर्ण आदर के साथ सहेजा गया वह चरण-चिह्न, विष्णु के व्यक्तित्व की एक अनिवार्य शर्त बन गया। विष्णु की यह सहिष्णुता उन्हें वह पात्रता प्रदान करती है जिसके चलते उनके वामनी चरण दो पग में समस्त ब्रह्माण्ड नाप लेते हैं और राजा बलि का परम सौभाग्य कि वामन का तीसरा पग वह अपने विनत मस्तक पर रोप लता है। उनके चरण का प्रक्षालन कर ब्रह्मा अपना कमण्डल भर लेते हैं, जिस चरण को गंगा अपना उद्गम स्वीकार कर विष्णुपदी अथवा देवापगा हो जाती हैं। इसी चरणामृत को शिव सादर अपने सिर-माथे सहेज लेते हैं, तपस्यारत भगीरथ को प्रदान करते हैं और वही चरणामृत गंगा मैया के रूप में भारतमाता का तरल विग्रह बन जाता है।

एक और पन्ना खुलता है। यही तो है वह चरण जिसका 'पावन परस' 'सोक नसावन' है, जिसे पाकर अभिशप्ता अहल्या मुनि के शाप को 'परम अनुग्रह' मानती है। इन्हीं चरणों को केवट पखारना चाहता है, इनसे चरणोदक प्राप्त कर वह न केवल अपने कुल-परिवार को भव-सागर से पार उतारता है, अपितु पितरों का तर्पण भी करता है। वह राम कितना देता है पद-प्रक्षालन का

प्रतिदान, राम, कृष्णावतार में सुदामा के चरण पखार कर देते हैं—**'पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये।'**

कामदगिरि पहुँचते-पहुँचते भरत को भैया राम का चरण-चिह्न नजर आता है। वे शत्रुघ्न से कहते हैं, "देख रहे हो शत्रुघ्न, यह भैया का चरण-चिह्न नहीं, हमारा ललाट-लेख है, जरा इसे पढ़ना तो।" शत्रुघ्न उत्तर देते हैं, "मेरे नेत्र इस कदर डबडबाये हुए हैं कि मेरे लिए इन्हें पढ़ पाना सम्भव नहीं है।" भरत हैरान हैं, "इसी कारण मैं स्वयं नहीं पढ़ पा रहा था और मैंने तुमसे आग्रह किया था।" किसने पढ़ा है, वह ललाट-लेख ? कौन पढ़ सकता है, वह ललाट-लेख ? ये अग्रज के चरण हैं, इनके चिह्न मेरे जैसे अनुजों के लिए ललाट-लेख बन जाते हैं।

भैया के चरण-चिह्न को भरत बड़े छोह से, बड़े मोह से सहलाते हैं, सिर माथे लगाते हैं, दण्डवत् कर हृदय से भेंटते हैं, आँखों से अञ्जनवत् लगाते हैं। पर यह क्या, इस क्रम में वह तनिक विरूपित हो गया। भरत के लिए यह असह्य हो गया; वे अपराध भाव से फूट-फूट कर रो पड़ते हैं।

पुनः पृष्ठ बदलता है। वन-पथ की दिव्य पथिकत्रयी। आगे-आगे राम हैं, उनके पीछे सीता हैं, सबसे पीछे लक्ष्मण हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी', तो महाकवि स्वयंभू की दृष्टि में, 'सतपुड़ा और विन्ध्य के बीच सरल-तरल नर्मदा जैसी।' लक्ष्मण, अग्रज भगवान् श्रीराम एवं भावज मातृरूपा सीता के चरण-चिह्नों को बचा कर चलते हैं। भला जो चरण-चिह्न माथा टेकने के लिए हैं, उन पर लक्ष्मण चरण कैसे रखते ?

पुनः दृश्य परिवर्तन होता है। वे चरण कुछ और नहीं थे जिन पर चंचु-प्रहार कर आक्रांत अभागा जयन्त दर-बदर भागता फिरा था। लौट कर उसे उन्हीं चरणों की शरण स्वीकार करनी पड़ी थी। अपहरण के पूर्व इन्हीं चरणों की 'मन मँह' वन्दना कर रावण ने 'सुख माना' था। मात्र इन्हीं चरणों के दर्शन करने वाले लक्ष्मण अपहृत सीता के आभूषणों में केवल नूपुर को ही पहचान पाये थे।

हनुमान् के ये ही वे चरण थे जिनके रख देने मात्र से, 'गिरि पाताल' चले जाते थे। यही तो हैं अंगद के वे पाँव, जो भरे दरबार में रावण के लिए चुनौती बन जाते हैं।

रावण निपात हो चुका है, प्रतिहिंसा-प्रेरिता मंदोदरी शिरस्त्राण, कवच और कृपाण धारण कर रणक्षेत्र में उतर आयी है। वह राम को प्रचारित कर रही है और श्रीराम हैं कि वे सुमनों के ढेर में छिप गये हैं। अकस्मात् फूलों

के उस ढेर से, किञ्चित् बाहर निकले हुए अरुणाभ युगल चरण दीख पड़े। मंदोदरी की पाषाणी प्रतिहिंसा पिघल गयी। उसके हाथ में तलवार थरथराने लगी और परे छूट गिरी। वह, श्रीराम के चरण-द्वय को अपने अंक में सहेज कर बैठ गयी। कालिय, नाग था तो क्या, कैसा था वह मस्तक जिस पर कन्हैया के चरण थिरके रहे होंगे? कैसे रहे होंगे राधा के वे चरण, जिसके चारण चक्रवर्ती, चपल चंचरीक बनने में, कृष्ण स्वयं को धन्य मानते रहे।

अभी पुराण के पन्ने पूरे पड़ ही नहीं पाये थे कि इतिहास के उतावले पन्ने एक-एक कर स्वयं को खोलने लगे। वे चरण उभरे, मेरा मस्तक इन श्री-चरणों को पहचानता है। बच्चन जी के शब्दों में कहूँ तो 'यह पगध्वनि मेरी पहचानी' है। अभी-अभी अलस्सुबह पड़ोस के मन्दिर से हरिओमशरण जी के भजन का स्वर मेरे श्रवण को बुहार गया है—'**यह गर्वभरा मस्तक मेरा, प्रभु चरण-धूलि तक झुकने दे।**'

हाँ, तो ये चरण हैं वर्द्धमान भगवान् महावीर के। सर्प, दर्शन देता है, परन्तु इनसे धारोष्ण दुग्ध की उजली धवल धार फूटती है। सर्प अपने समस्त विष के साथ स्तब्ध रह जाता है।

उफ! यह लहूलुहान चरण, इन्हें जीवन-पर्यन्त क्या, जन्म-जन्मांतर अपने नेत्रों का नीराञ्जन दूँ, तथापि थोड़ा होगा। सलीब पर टँगे प्रभु यीशु के इन चरणों में कीलें ठोंकी गयी हैं, फिर भी प्रभु यीशु के होठों पर आततायियों के लिए प्रार्थना है। समस्त मानवता के लिए एक अक्षय क्षमा, ममता, सहानुभूति, संवेदना का कोष है, प्रभु यीशु के मन-प्राण में।

इन चरणों के साथ ही व्याध जरा के शर से बिद्ध भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण का लहूलुहान चरण स्मृति में कौंध जाता है। मेरे लिए चंचु-प्रहार से आहत माता सीता के चरण, शरबिद्ध रक्त से लथपथ श्रीकृष्ण के चरण और सलीब पर कील ठुके ईसा के लहूलुहान चरणों में कोई अंतर नहीं है।

'बाबा, वह जिधर न हो, तू उसी ओर मेरे पाँव कर दे।' और यह क्या? पाँव जिस-जिस दिशा की ओर खिसकाये गये, उस-उस ओर वह खिसकता नजर आया। क्या इन पाँवों को नहीं पहचानूँगा? इन पाँवों से तो मेरे माथ का जनम-जनम का रिश्ता है। हाँ, ये चरण हैं गुरु नानक देव के।

चरणों की ही तो करुणा थी, है और रहेगी। मैं विष्णु चरण, जिनसे गंगा निःसृत हुई, महावीर के चरण, जिनसे दुग्ध-धार फूटी और तमाम अन्य चरण जिनका सम्बन्ध तीर्थों से है, में कोई भेद नहीं देखता।

स्वामी रामानन्द का चरण-स्पर्श ही तो कबीर के लिए गुरुदीक्षा बन गया था। इन्हीं श्रीचरणों को देखकर कभी कबीर ने कहा होगा, 'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।' गुरु और गोविन्द दोनों के श्रीचरण हैं ये। इन्हीं 'चरण-सरोज' के 'रज' से गोस्वामी जी ने अपना 'मन मुकुर' सुधारा था। फलस्वरूप उन्होंने 'रघुबर बिमल यश' का वर्णन किया था।

आचार्य भट्टोजि दीक्षित के पिताश्री ने उनसे कहा, 'इतनी उम्र हो चली, कभी देवालय नहीं गया, कभी देवता को प्रणति नहीं दी, कोई संध्या-वंदन नहीं, कोई साधना नहीं, कोई उपासना नहीं, आखिर उम्र का, जीवन का क्या उपयोग है ?' भट्टोजि ने कहा, 'रोज-रोज प्रणाम क्या करना, प्रणाम तो वह है जो भीतर से उगता है, खिलता है, सुगन्ध की तरह उपजता है, निर्झर-सा फूटता है। अच्छा पिता जी, मैं कल देवता को प्रणति दूँगा।' पूरे हौसले से उन्होंने अगले दिन तैयारी की, स्नान किया। वे देवालय गये। साष्टांग दण्डवत् किया। प्रणति क्या अस्तित्व का ही विसर्जन कर दिया। प्रणति के लिए जो झुके, तो फिर वे उठे ही नहीं। कैसी विलक्षण प्रणति थी वह !

दक्षिण के कबीर, महात्मा संत वेमन्ना कहते हैं, यदि तुम केवल प्रणाम कर सकते हो तो तुम्हें किसी उपासना, किसी साधना की आवश्यकता नहीं है परन्तु शर्त यह है कि वह प्रणाम पूरे मन-प्राण से हो। युवा गीतकार रमेश यादव के शब्दों में—

दर्द सारे तमाम हो जाते। हम, जो केवल प्रणाम हो जाते।

इन युगल चरणों के कितने पन्ने-दर-पन्ने मेरे सामने खुलते जा रहे हैं जिन्हें जाँच पाना अथवा बाँच पाना मेरी औकात से परे है। सुना है और विश्वास भी करता हूँ कि कोई भी प्रार्थना अनुत्तरित नहीं जाती। अस्तु, इसी भरोसे यह प्रार्थना है, हे परमात्मन् ! मेरे मस्तक हेतु इस युगल चरण की वत्सल शरण, इनकी ममतालु छाँव बराबर बनी रहे।

उन्होंने सीता को दान में माँग लिया

आनन्द-रामायण में एक अत्यंत रोचक प्रसंग आया है। अश्वमेधयज्ञ-समापन के अवसर पर राम ने घोषित किया कि आज मुझसे जो भी माँगा जायगा, मैं दूँगा। महर्षि वसिष्ठ ने सर्वालंकारभूषिता सीता को दान में माँग लिया। राम ने सीता को दान कर दिया। लोग हतप्रभ हो आश्चर्यचकित देखते रहे। बूढ़े वसिष्ठ को क्या हो गया? और राम को यह क्या सूझा? तब तक वसिष्ठ ने घोषित किया कि सीता के वजन का आठ गुना सोना लेकर मैं सीता को वापस कर सकता हूँ। राम ने वसिष्ठ की व्यवस्था के अनुसार सोना देकर सीता को वापस पा लिया। दुःखी सीता ने राहत की साँस ली।

संगम पर जब-जब जाता हूँ, तब-तब वहाँ पण्डों और पुरोहितों से घिरे स्त्री-पुरुषों के चेहरे पर कभी तनाव और कभी उससे मुक्ति का भाव देखकर आनन्द रामायण के इस दान-प्रसंग की याद आ जाती है।

मैंने अनेक नदियों के संगम देखे हैं। कर्ण प्रयाग, देव प्रयाग और रुद्र प्रयाग भी देखे हैं, परन्तु ऐसा प्रयाग, ऐसा अपूर्व संगम कहीं नहीं देख पाया। संगम-स्थल पर स्पष्टतः श्वेत और श्याम जलधाराएँ अलग-अलग नजर आती हैं।

अभी उस दिन बाँध से उतरकर मैंने संगम के लिए नाव ली। ब्याह के डोले-सी नन्हीं-नन्हीं किश्तियाँ लहरों पर थिरक रही थीं। यद्यपि, यह मेले का अवसर नहीं था, तथापि संगम-क्षेत्र में बराबर एक अनुपस्थित मेले की उपस्थिति स्पन्दित होती रहती है।

"इस संगम में सरस्वती कहाँ है? जैसे गंगा और यमुना का जल साफ-साफ दीखता है, वैसे सरस्वती भी क्यों नहीं दीखती?" नाव पर बैठे स्नानार्थियों में से एक लड़की ने अपने पिता से पूछा।

अभिभावक जब तक जवाब दे, उसके पहले ही बूढ़ा मल्लाह बड़े स्नेह से, बेहिचक, उस लड़की की पीठ पर पड़ी चोटी को हाथ में लेकर बोला, "बिटिया! तुमने अपने बालों की तीन लटों को मिलाकर यह चोटी गुही है, कसकर गुही हुई

चोटी में तो सिर्फ दो ही लटें दीखती हैं, तीसरी कहाँ गयी ? वह क्यों नहीं दीखती ? हालाँकि वह इन्हीं में है, लेकिन दीखती नहीं। जैसे तुम्हारी चोटी की त्रिवेणी में तीन वेणी होती हुई भी केवल दो ही नजर आती हैं, उसी तरह इस संगम में भी दो वेणी ही दीखती हैं, हालाँकि तीसरी भी यहीं है, कहीं गयी नहीं है।'' लड़की की जटिल जिज्ञासा का इतना सहज सोदाहरण समाधान उस अनपढ़ बूढ़े मल्लाह से सुनकर हम उसका मुँह ताकते रह गये।

संगम-संदर्भ में केरलीय रामकथा का एक अनूठा भरत-प्रसंग भी स्मृति में उभरने लगता है। राम को मनाकर वन से वापस लाने के लिए वन जाते हुए भरत प्रयाग पधारे। उन्होंने गंगा में स्नान किया, यमुना में स्नान किया, पर संगम में स्नान करने से इन्कार कर दिया।

''यह क्या ! संगम तो अधिक पुनीत है महाराज !'' पुरोहितों ने भरत से आग्रह किया।

''होगा, मुझे संगम में स्नान नहीं करना है। आप लोग निश्चिन्त रहें, आपकी दक्षिणा में कोई न्यूनता नहीं आने पायेगी।'' सर्वदा शीलवान् संकोची भरत ने उद्धत उत्तर दिया।

''महाराज ! दक्षिणा का कोई प्रश्न नहीं है, यहाँ पहुँचकर संगम की अवमानना करने से पुण्य क्षय होता है।'' भरत के दोटूक उत्तर से संकुचित पुरोहितों ने निवेदन किया।

''कोटि रौरव मिल जाये तथापि संगम में स्नान नहीं करूँगा।'' भरत अपने निर्णय पर पूर्ववत् दृढ़ थे।

''महाराज ! आखिर आपको आपत्ति क्या है ?'' पुरोहितों ने भरत के रुख पर कौतूहल और आश्चर्य से पूछा।

भरत की आँखें डबडबा आयीं, ''मेरी माँ कैकेयी को कोई अभाव नहीं था, परमात्मा का दिया सब-कुछ था उसके पास। केवल एक ही अभाव था और वह यह कि राम उसके कोखजाये बेटे नहीं थे और इस प्रकार सीता उसकी सगी पुत्रवधू नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए वह अहर्निश प्रार्थना किया करती थी कि हे परमात्मा ! अगले जन्म में राम उसके कोखजाये बेटे और सीता उसकी सगी पुत्रवधू हो, यही उसकी एकमात्र प्रार्थना होती (तुलसी के शब्दों में **'होयं राम सियँ पूत पतोहू'**) और ऐसी मेरी माँ पर जब सरस्वती कृपालु हुई, तब वही मेरी माँ, मेरे भैया राम के विरुद्ध खड़ी हो गयीं। इस संगम में सरस्वती भी हैं। कहीं ऐसा न हो मैं अपने भैया राम के विरुद्ध खड़ा हो जाऊँ। इस सरस्वती के कारण संगम-स्नान मुझे स्वीकार्य नहीं है।'' भरत का उत्तर सुनकर पुरोहित स्तब्ध रह गये।

इलाहाबाद का प्राचीन नाम प्रयाग है। प्रयाग के अतिरिक्त इसके प्राचीन नामों में तीर्थराज भास्करक्षेत्र और इलाबास प्रमुख हैं। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—

माघ मकरगत रबि जब होई,
तीरथपतिहि आव सब कोई।
प्रति संबत अस होइ अनंदा,
मकर मज्जि गवनहिं मुनिवृन्दा।

मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग-क्षेत्र की सीमा इस प्रकार है— पूर्व में समुद्रकूप, पश्चिम में कम्बलाश्वतर, दक्षिण में बहुमूलक और उत्तर में वासुकी-ह्रद। पद्मपुराण, महाभारत एवं अग्निपुराण ने इस सीमा का समर्थन किया है। प्रयाग-क्षेत्र में नदियों, के सितासित संगम-स्थल पर बीस धनुष की लम्बाई एवं चौड़ाई का क्षेत्र वेणी अथवा त्रिवेणी कहलाता है। त्रिवेणी को अ, उ और म अर्थात् ओऽम् का पर्याय माना गया है। अ, सरस्वती, उ गंगा और म यमुना के वर्ण एवं प्रतिनिधि हैं। इन तीनों नदियों के संगम को अनिरुद्ध, प्रद्युम्न एवं संकर्षण का संगम बतलाया गया है। त्रिवेणी-क्षेत्र की सीमा में प्रयाग, प्रतिष्ठानपुर एवं अलर्कपुर नामक तीन अग्निकुण्डों की स्थिति है। इनके बीच से होकर गंगा प्रवहमान हैं।

सती का शव कन्धों पर लिए हुए परम वियोगी शिव जब दर-दर प्यार की अलख जगाते भटक रहे थे, सती की पीठ गलकर यहीं प्रजापति क्षेत्र में गिरी थी। यहीं पर अलोपी देवी का मन्दिर है, इसे सती का पीठस्थान माना गया है।

इलाहाबाद संयुक्त प्रांत, आगरा व अवध की कभी राजधानी था। स्वतन्त्र भारत ने जाने किस अपराध के कारण प्रयाग से उसका वह गौरव छीन लिया। काश ! संगम को उठा ले जाना सत्ता के बस की बात होती, तो संगम कब का लखनऊ अथवा दिल्ली में स्थापित हो गया होता।

संसार का सबसे बड़ा मेला यहाँ माघ मेले के रूप में या कुम्भ मेले के रूप में आयोजित होता है। गत कुम्भ में तो आगंतुकों की सीमा-संख्या एक करोड़ को पार कर गयी थी। कुम्भ स्वयं में एक शकुन का प्रतीक है। विशेषकर भरा हुआ कलश, एक मांगलिक चिह्न माना गया है। रसाग्रही कवि के परदेश जाते नायक के समक्ष जब पीनस्तनी नायिका विदा देने के लिए आ खड़ी होती है, तब वह बरबस कह उठता है—

देह धर कर आ गयी है गुनगुनाती धुन,
एक जोड़ा कलश, जैसे मूर्तिमान सगुन।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्व ढंग से कुम्भ का निदर्शन स्कंदपुराण में किया गया है।

समुद्र-मंथन के दौरान अमृत-कुम्भ मिलने पर देवराज इन्द्र के संकेत पर उनके सुपुत्र जयन्त ने उसे उठा लिया और भाग निकला। उनके पीछे-पीछे दानव दौड़े। जयन्त को भागते हुए दानव-गुरु शुक्राचार्य ने देख लिया और उन्होंने ही दानवों को जयन्त का पीछा करने का आदेश दिया था। निरंतर बारह दिन और बारह रात तक यह भाग-दौड़ चलती रही। उस अमृत-कुम्भ की सुरक्षा के लिए देवराज इन्द्र ने बृहस्पति, चन्द्रमा, सूर्य और शनि को नियुक्त किया। चन्द्रमा का दायित्व था कि वह अमृत को छलकने और बहने से रोके। बृहस्पति का दायित्व था कि वह अमृत को दानवों से बचाये। देवता अकेले ही न उसे पी जायें, इसकी जिम्मेदारी शनि को सौंपी गयी। सूर्य का उत्तरदायित्व था कि अमृत-कुम्भ फूटने न पाये। इतनी सुरक्षा के बावजूद कुम्भ इस तरह लबालब भरा हुआ था कि वह छलकता ही रहा—

चन्द्र प्रस्रुवणा द्रक्षां सूर्यो विस्फोटनात्तथा
दैत्येभ्यश्च गुरुः रक्षां सौर देवेन्द्र जात भयात् ।

यह अमृत जहाँ-जहाँ छलका, वहाँ-वहाँ कुम्भ मेले का आयोजन होता है—

विष्णुद्वारे तीर्थराजेऽयन्तयां गोदावरी तटे,
सुधाबिन्दु विनिक्षेपात् कुम्भपर्वेति विश्रुतम् ।

कुम्भ मेलों में हमारे देश की रंगारंग मयूरपंखी संस्कृति, इन्द्रधनुषी रीति-रिवाजों के दर्शन होते हैं। कुम्भ राशि में बृहस्पति का योग होने पर हरिद्वार में, वृष राशि के साथ बृहस्पति का योग होने पर प्रयाग में, सिंह राशि के साथ बृहस्पति का योग होने पर नासिक में और वृश्चिक राशि के साथ बृहस्पति का योग होने पर उज्जैन में कुम्भ-पर्व सम्पन्न होता है।

नारदपुराण के उत्तर भाग के अनुसार गंगा के समीप जाने पर कल्प भर के पापों का संग्रह मनुष्य के केशों का आश्रय लेकर स्थित होता है। अतः मनुष्य को उसका त्याग कर देना चाहिए। महिलाएँ यदि केश न बनवाएँ तो इसी क्षेत्र में अपनी एकाध लट का त्याग अवश्य करें। हालाँकि स्नानार्थियों में ऐसी महिलाओं की संख्या भी यहाँ पर्याप्त होती है जो मुण्डन कराती हैं। प्रयाग में मुण्डन कराये, गया में पिण्डदान करे, कुरुक्षेत्र में दान दे और काशी में शरीर-त्याग करने का पुण्य दुर्लभ है। संगम पर पितर-तर्पण और पिण्डदान करने से पितर भी कोटि-कोटि पातकों से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ यह भी प्रायः देखने को मिलता है कि तीर्थ का पूरा पुण्य लूटने के लिए यजमान ने पत्नी का दान कर दिया, अब उसे वापस लेने के लिए मोल-भाव

चल रहा है। पुरोहित अधिकतम ऐंठने की घात में हैं और यजमान सांकेतिक व प्रतीक रूप में कुछ देकर पत्नी को छुड़ाना चाहता है। इसके लिए वह बुरी तरह घिघियाता है जिसे देखकर अजीब जुगुप्सा होती है।

जो भला पुरोहित है, वह कहता है, "जो यजमान बाहर से आता है, वह तो गंगा और संगम-स्नान के लिए आता है। हमारे कुछ भाई उसे पास ही यमुना में गोता लगवा देते हैं। वह वहाँ उसे त्रिवेणी ही मानकर गोता लगाता है। वह जो समझ कर गोता लगाता है, उसे तो वही पुण्य मिलेगा, पातक तो हमें लगेगा जो उसे धोखा देते हैं।"

त्रिवेणी-क्षेत्र में पिण्डदान, स्त्रीदान और पत्नीदान आदि के रोचक, खेदजनक और विचित्र उदाहरण देखने में आते रहते हैं। पण्डा-पुरोहित यदि भले मिल गये, जो बहुधा मिलते हैं, तो तीर्थयात्री अपनी तीर्थयात्रा सम्पन्न कर मुदित मन वापस लौटता है। यदि इसके प्रतिकूल हुआ, तो उसकी प्रतिक्रिया बड़ी कटु होती है। वह कहता है—यह तीर्थ है या नरक ?

अयोध्या का सिंहासन खाली है

सीता का शाब्दिक अर्थ कुछ भी हो, लेकिन यह नाम जब-जब मेरे भीतर सुगबुगाया है, एक जोड़ा नम आँखें मेरी कल्पना में तिर आयी हैं। लगता है एक जोड़ा डबडबायी आँखें ही सीता का पर्याय हैं। सीता शिशिर के सूर्यास्त की तरह उदास और संध्या की तरह असहाय एवं निरुपाय लगती है। रामायणकारों और कथावाचकों ने सीता का चाहे जो रूप चित्रित किया हो, लेकिन लोक-मानस ने सीता को एकदम भिन्न धरातल पर ग्रहण किया है। शाक्त-प्रभाव में आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण, विलंका रामायण, भावार्थ रामायण, जैमिनी अश्वमेध, रामलिंगामृत, सीतोऽपनिषद् आदि ग्रन्थों में सीता को शक्तिस्वरूपा भी माना गया। उसके द्वारा ताण्डव की अवतारणा भी करायी गयी है। किन्तु जब भी मैंने लोक-जीवन में रूपायित सीता को देखा है, मुझे लगा है—जैसे सीता मेरी दुखती हुई माँ, बहन, बेटी, पत्नी, प्रिया है जिसको मेरे पुरुष के अहं ने पिता, पुत्र, भाई, पति और प्रेमी के रूप में बार-बार दुखाया है। लोक-जीवन में यत्र-तत्र-सर्वत्र सीता के टुकड़े-टुकड़े बिखरे इस रूप को बटोर कर एक क्रम में सहेज लेना ही यहाँ मेरा उद्देश्य है। स्व० रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने एकालाप 'सीता की माँ' में सीता-जन्म के रूपक को एक यथार्थ का धरातल देने का प्रयास किया है। द्वादशवर्षीय अनावृष्टि के कारण राजा जनक स्वयं खेत पर जोतने के लिए पहुँचने वाले हैं। यह सूचना एक अकिंचना प्रसूता को मिलती है। उसने यह समझकर कि यदि नवजात कन्या दयालु, धर्मात्मा राजा जनक के हाथ पड़ गयी तो सुखी रहेगी, अपने कलेजे के टुकड़े को खेत पर ही छोड़ दिया। वही कन्या राजा जनक की पालिता पुत्री हो गयी। उस गरीब को क्या पता था कि दुखियारी बिटिया के ललाट में विधाता ने जो दुःख लिख दिया है, वह बराबर उसके पीछे पड़ा रहेगा।

सीता राजकन्या है, तथापि हर सुबह जब वह भूमि लीपती है, शिव के धनुष को उठाकर अलग रख देती है और लीपने के बाद वह पुनः धनुष को यथास्थान रख देती है। राजा जनक जब यह देखते हैं, तब भीषण प्रण करते हैं कि जो

वीर इस शिवधनुष पिनाक को चढ़ा देगा, उसी के गले में सीता जयमाल डालेगी।

गाधि-तनय कौशिक के साथ वनवास-अवधि में राम-लक्ष्मण ने ताड़का-सुबाहु का वध किया। मारीच को मार भगाया। उनका यज्ञ जब निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब राम-लक्ष्मण कौशिक के साथ जनकपुर की ओर हो लिये। युद्ध-श्रम से श्लथ राम को प्यास लगी। अकस्मात् सामने एक तलैया प्रकट हो गयी। प्यासे राम ने अँजुरी भर ली—तुरन्त ही उन्हें खयाल आया, यह अहैतुकी कृपा कैसी ? उन्होंने तलैया से पूछा, "तुम कौन हो ? मुझ पर यह कृपा कैसी ? तुम्हारा कुल-गोत्रसहित पूरा परिचय पाये बिना मैं तुम्हारा जल ग्रहण नहीं कर सकता।"

"मैं जनक की बेटी हूँ। मैं तुम्हारे लिए ही हूँ। मैं तुम्हारी तृषा की तृप्ति हूँ। मेरा जल ग्रहण करने से तुम्हें किसी प्रकार से कुपथगामी होने का कलंक नहीं लगेगा। मुझे स्वीकार कर अपनी तृषा को तृप्ति दो।" तलैया ने उत्तर दिया। सौराष्ट्र की इस लोककथा में सीता-राम का पूर्वराग अनूठे ढंग से दिया गया है।

गोसाईं जी ने फुलवारी-संदर्भ में राम-जानकी का पूर्वराग दिखाया है। कई दूसरे रामायणकारों ने विवाह से पूर्व राम और सीता के परस्पर दर्शन एवं अनुराग के अनेक प्रसंग प्रकारांतर से प्रस्तुत किये हैं। लोकगीतकार बतलाता है कि जनक के राजमहल की दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी देखकर राम पूछते हैं, "ये चित्र किसने बनाये हैं ?" भीतर से बाहर आती हुई एक कहारिन बतलाती है, "जिसे तुम ब्याहने आये हो, यह चित्र उसी सियादुलारी के हैं।" राम चित्रों एवं चित्रकर्त्री पर मुग्ध हो जाते हैं।

भक्तप्रवर त्यागराज रससिद्ध कवि भी थे। उनका काव्यग्रन्थ है 'प्रह्लाद-विजयमु'। उसमें हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त एक प्रकरण है—भगवान् नृसिंह अत्यन्त कुपित हैं। किसी का साहस उनके सामने जाने का नहीं होता। वे हिरण्य-कशिपु के आँतों की माला पहने हुए हैं। भक्त प्रह्लाद उनके समक्ष आ खड़ा हुआ। भगवान् बालक प्रह्लाद को गोद में उठा लेते हैं और प्यार से उससे वरदान माँगने का आग्रह करते हैं। प्रह्लाद कहते हैं, "प्रभु ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे वैदेही माता के सुख का कोई एक अंश दे दो।" "वैदेही माता के सुख से तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?" भगवान् ने पूछा। प्रह्लाद फिर बतलाते हैं, "माता के स्वयंवर में देश-देश के राजा तथा राजकुमार आ रहे हैं, अभी तक वे नहीं आयें जिनकी माता को प्रतीक्षा थी। ऐसा तो नहीं कि वे न आयें। तभी किसी विदुषी ने बतलाया कि अमुक-अमुक शकुन हो रहे हैं, ये शकुन अमोघ हैं। इस आश्वासन को पाकर माता को जो आनन्द हुआ हो, उसका कोई एक

अंश । फिर, माता गौरी का आशीर्वाद प्राप्त कर माता को जो सुख प्राप्त हुआ, उसका एक अंश । श्यामल छवि दीख पड़ी, पर यह क्या ! उनकी कमनीयता और शिवधनुष की कठोरता की तुलना मन में आते ही माता पुनः विकल हो उठीं किन्तु उन्होंने तो केवल एक निमिष में धनुष चढ़ाकर तोड़ दिया । उस समय जानकी माता को जो हर्ष हुआ हो, उसका कोई अंश ।" भगवान् ने प्रसन्न होकर भक्त को मनोवांछित वरदान दिया । यद्यपि रामावतार नरसिंहावतार के बाद हुआ है, परंतु वह जो काल को उसकी समग्रता में ग्रहण करता है, क्रम का कायल नहीं होता ।

धनुष टूट गया, सीता राम को जयमाल पहनाने के लिए सामने खड़ी हैं । जयमाल के लिए राम का सिर झुकाना आवश्यक है । राम को गुमान है, शिव का धनुष तोड़नेवाला परमपराक्रमी भला सिर क्यों झुकाये ! अजब पहेली है । मिथिला के लोक-मानस ने इस गुत्थी को बड़े प्यारे ढंग से सुलझा दिया है । एक प्रगल्भ सखी बड़बड़ाती है, "इस धनुष के तोड़ने पर इत्ता गुमान, इसे तो हमारी सिया भुँइया लीपते समय रोज इधर-से-उधर खिलौने की तरह उठाती-रखती थी ।" दूसरी सखी सयानी थी । वह मुसकराकर लक्ष्मण से बोली, "तुम कैसे अनुज हो ? अग्रज ने शिवधनुष चढ़ाकर इतना बड़ा पराक्रम किया और तुम हो कि उनके चरण भी नहीं छुए ?" लक्ष्मण को अपनी भूल समझ में आयी, वे चट भैया के चरण छूने को झुके, राम उन्हें उठाकर बाँह में भरने के लिए झुके । राम जी का झुकना था कि सिया जी ने झट से उनके गले में जयमाल पहना दी ।

कोहबर में सखियों ने षड्यंत्र किया कि अँधेरे घुप में राम को सिया जी का चरण छुआ दिया जाये । राम से कुलदेवता के चरण छूने को कहा गया । सीता का मन घबरा उठा, यह तो मर्यादा के विपरीत होगा । इधर राम ने हाथ बढ़ाया, उधर वैदेही ने सोद्देश्य कंकण बजा दिये । राम ने उसी ध्वनि के सहारे सीता के चरण छूने के बजाय उनका करकमल पकड़ लिया । कृत्तिवास ओझा ने अपनी बँगला रामायण में इस मनोहारी प्रसंग की अवतारणा की है ।

कौशल्या बड़े हौसले से आगतों को दहेज का सामान दिखा रही हैं—राजा जनक ने यह दिया है, वह दिया है । "यह सब तो हर राजा अपनी बिटिया को देता है, राजा जनक ने क्या कुछ ऐसा भी दिया है जो आज तक किसी ने न दिया हो और भविष्य में भी न दिया जा सके ।"—अयोध्या की एक नाइन ने ताना मारा । महारानी कौशल्या ने निरुत्तर हो सीता की ओर देखा, असहाय सीता ने सिर झुका लिया । सीता लौटकर मायके आयी, उसने नाइन के ताने की बात कही और खूब रोयी । किसी के पास उसके दुःख का

उपचार न था। वह गौरा की शरण गयी, गौरा ने मुँह फेर लिया। अंततः उस फुलवारी में, जहाँ उसका अपने प्रिय से विवाह से पूर्व मिलन हुआ था, एक पेड़ के नीचे बैठकर रोने लगी। उस पेड़ पर एक पंछी बैठा था, उससे सिया जी का रोना नहीं सुना गया। अपने स्वर में सीता के समस्त दर्द को समोकर वह पिहकने लगा। उसकी पिहकन की पीड़ा से पेड़ बौरा गया, वह पिहकता गया, बौर में फल आ गये, वह पिहकता गया, फल पक गया। उसके पकने की गंध को सह न सकने के कारण वह मूर्च्छित हो गया। होश आने पर उसने वह फल सीता को देते हुए कहा, "अपनी सास महारानी कौशल्या को हमारा प्रणाम कहना और यह फल देते हुए कहना, इसके पहले इस जाति के फल का जन्म भी नहीं हुआ था। यह अनुपम फल हम उन्हें दहेज में दे रहे हैं। वे अपने यहाँ की नाइन को समझा दें कि सिया के खिलाफ ताने मिथिला के नर-नारी तो क्या, पशु-पक्षी भी नहीं सह सकते।" वह फल आम था और वह पंछी कोयल। कहा जाता है, संसार को पहले-पहल आम-जैसे अनुपम फल की भेंट मिथिला ने ही दी थी।

जयन्त (भावार्थ रामायण के अनुसार एक गंधर्व) सीता के वक्ष पर चंचुप्रहार कर भागा, सीता पीड़ा से तिलमिला उठीं। राम ने उसे लक्ष्य कर शर छोड़ दिया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सबकी शरण गया, लेकिन रामद्रोही को भला कौन शरण देता! वह भागता हुआ सीता की शरण आया। उसने प्रार्थना की, "माँ! मैं तेरा पुत्र हूँ, मास के वर्जित दिनों में जब पिता भी तुम तक नहीं आ सकते, पुत्र होने के नाते मैं तुम्हारी गोद तक आ सकता हूँ। शरण में आये इस पुत्र को अभय दो माँ!" प्रसंग की सारी संवेदना ही बदल जाती है। संत एकनाथ ने अपनी भावार्थ रामायण में इस प्रकरण को एक अद्भुत ऊँचाई दी है।

रावण-वध के उपरांत, राम ने अत्यंत निर्मम हो, सीता की अग्निपरीक्षा ली। विभीषण नहला-धुलाकर, शृङ्गार करवाकर सीता को राम के समक्ष लाना चाहता है, परन्तु राम उन्हें उसी मलिन वेश में बुलवाते हैं। कहनी-अनकहनी क्या नहीं कहते! उफ! जिस प्रिय का निश-दिन अलख जगाती रहीं, वही आज वचन-बाणों से उन्हें बींध रहा है। लक्ष्मण-जैसे देवर को चिता बनाने-जैसा क्रूर कर्म सौंपा गया। तीन सौ हाथ गहरे अग्नि-कुण्ड में जब सीता उतरीं, अग्नि राम की दुहाई देता हुआ बाहर आया, "हे राम! मैंने तुम्हारा ऐसा क्या अपराध किया है जो तुम मुझे सीता के पतिव्रत-तेज से दग्ध कर रहे हो?" यही नहीं, अग्नि इस तरह शीतल हुआ कि उस कुण्ड से जलधारा फूट पड़ी। अग्निसहित अनेक देवता सीता की पवित्रता का साक्ष्य देते हैं। भगवान् शंकर

न केवल सीता की पवित्रता प्रमाणित करते हैं, वरन् राम की भर्त्सना भी करते हैं।

राम के राज्याभिषेक के उपरांत सीता का थोड़ा-सा समय सुख और संतोष में बीता। वस्तुतः सीता का सम्पूर्ण वृत एक दुःखांत ग्रन्थ है जिसमें कहीं-कहीं फुटनोट की तरह सुख के संदर्भ हैं।

बंगाल, बिहार, मिथिला आदिवासियों में प्रचलित सीता-कथा के आधार पर रामकथा का पदों में गायन करने वाली चंद्रावती बतलाती है कि कैकेयी की एक बेटी है कुकुआ। उसने सीता से आग्रहपूर्वक पूछा, "भाभी! जिस महा-पराक्रमी रावण का वध मेरे भैया ने किया, वह कैसा था?" "मैंने तो उसे देखा भी नहीं, मैं क्या बतलाऊँ!" सीता ने उत्तर दिया। सीता के उत्तर पर कुकुआ मचल गयी। ननद को इस तरह मचलता देख सीता ने कहा, "जब वह मुझे धमकाने आता था, तब धूप में मैंने उसकी छाया देखी है, उसी के आधार पर उसकी तसवीर बनाकर बताने की कोशिश करूँगी। तुम कोयला लाओ।"

तसवीर बनाने के क्रम में रावण की आकारगत भयानकता के कारण भय-भीता सीता मूर्च्छित होकर उसी अधबने चित्र पर लुढ़क गयीं। सीता उस समय गर्भिणी थीं। कुकुआ ने दौड़कर राम से चुगली खायी, "तुम कहते हो सीता सती-सावित्री है, पर उसे अब तक दशानन-राग नहीं भूला है, वह उसके चित्र बना-बनाकर उनका आलिंगन करती है।" दातून करते हुए राम वहाँ पहुँचे और जो कुछ कुकुआ ने कहा था, प्रत्यक्ष देख लिया। पुरुष के मन में विष घुल गया, उन्होंने सीता को निर्वासन दे दिया।

राम पोखरा पर बैठे, हैं, कन्धे पर पट्टुका (गमछा या उत्तरीय) है, दातून कर रहे हैं। लक्ष्मण माथे पर रोचना लगाये सामने आते हैं। राम लक्ष्मण से पूछते हैं कि तुम्हारा लिलार (माथ) दिप रहा है, यह कैसा रोचना है। लक्ष्मण बतलाते हैं, "हमारी भाभी को पुत्र हुए हैं, मेरे भतीजों का जन्म हुआ है।" वे राम से यह नहीं कहते कि तुम्हारे पुत्र जनमे हैं। सीता ने भी अयोध्या जो संदेश और रोचना भिजवाया था, उसमें राम को कैसा भी संदेश देने या रोचना देने की मनाही थी।

गुरु वसिष्ठ के आग्रह पर, केवल उनकी मर्यादा रखने के लिए सीता अयोध्या की ओर दो पग चलीं और फिर अपने दर पर आ गयीं। खिले गुलाब की तरह लव-कुश को खेलता देखकर राम गद्‌गद हो गये। लहू ने लहू को पुकारा। राम ने बेटों को गोद में उठा लिया, प्यार से पूछा, "तुम किसके नाती हो? तुम किसके पोते हो? तुमने किसकी कोख जुड़ायी है? तुम्हारे पिता का क्या नाम

है ?" लव-कुश ने उत्तर दिया, " हम राजा जनक के नाती हैं, हम राजा दशरथ के पोते हैं, हमने सीता माता की कोख जुड़ायी है, हम लक्ष्मण के भतीजे हैं……" "और तुम्हारे पिता का नाम ?" अधीर होकर राम ने पूछा। "हमें नहीं मालूम।" बेटों का मर्मवेधी उत्तर सुनकर राम रो पड़े, "सीते ! यह तुमने कैसा प्रतिकार लिया, बच्चों को उनके पिता का नाम तक नहीं बतलाया !" राम सीता से आग्रह करते हैं, "चलो अयोध्या का सिंहासन खाली है, तुम्हारे बिना जग अँधियार है।" सीता कुछ नहीं कहतीं, केवल प्रिय की वह छवि छलछलायी हुई आँखों में आँजकर धरती में समा जाती हैं। इस तरह पीड़ा का एक महाकाव्य जैसे अपनी चरम परिणति पा गया।

●

नहीं, मैं फूल के सीने में सूई नहीं उतार सकता

श्री नरेश मेहता के आँगन की माधवी लता में पहला फूल खिला। उन्हें लगा, जैसे उनके आँगन में एक वैष्णवता खिली है और इसका अनुमान हुआ कि कैसे सहज ही अनायास विदुर के घर कृष्ण आये होंगे। पौधे के हृदय के अतल तल का रस लेकर कली नहीं, कृतज्ञता चटखती है। फूल नहीं, आभार खिलता है। कली, प्रकृति के प्रति पौधे की कृतज्ञ विनम्र प्रणति है और फूल, नियंता के प्रति उसका आभार प्रणाम होता है।

फूल तोड़ने के लिए नहीं, गंध-घ्राण के लिए होता है। सौन्दर्य देखने-सराहने के लिए होता है, स्पर्श के लिए नहीं। 'फूल तोड़ना मना है' आखिर इस हिदायत की आवश्यकता क्यों होती है? लोग-बाग फूल तोड़ते हैं, शायद इसीलिए; इतने पर भी हिदायत के बावजूद, फूल तोड़े ही जाते हैं! आखिर क्यों? यह कैसा सौन्दर्यबोध है? यदि यही सौन्दर्यबोध है तो विकृति किसे कहते हैं? टहनी पर फूल खिला नहीं, कि हमसे देखा नहीं जाता। एक फूल गुलदस्ते के खाते में तो दूसरा एक पत्र के जवाब में एक पुस्तक के बीच। एक प्रतिमा पर चढ़ाने के लिए तो दूसरा शव की अभ्यर्थना के लिए। 'वो आयेंगे जल्द या देर से नहीं मालूम, बिछाऊँ फूल कि कलियाँ बिछाऊँ बिस्तर पर?' अथवा 'नून देबै मँगनी' हम तेल देबै मँगनी, सैयाँ हम मँगनी न देब। बलमू हमार हई फुलवा के जोखल, घट जइहैं केकरा से लेब?'

मैं जब-जब किसी फूल को किसी कोट में टँका देखता हूँ—कोट हो अथवा अचकन, मुझे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन स्मरण हो आता है: 'My flowers do not seek your paradise in a fool's button hole.' फूल तोड़ने वालो, कभी एक क्षण को यह तो सोचा होता कि जब तुम एक फूल तोड़ते हो तो किसी एक तितली के उल्लास में न्यूनता आती है, किसी भ्रमर की गुञ्जार, किसी बुलबुल के गीत में खराश आती है, किसी मधु-भण्डार की संभावना संकुचित होती है। एक बार "एक भारतीय आत्मा" के शब्दों में फूल की चाह तो सुन ली होती:

चाह नहीं, सुरबाला के गहनों में मैं गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इतराऊँ ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली औ' उस पथ पर देना फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाते वीर अनेक ।

मुझे क्षमा कर देना, यदि मैं तुम्हारे जूड़े में फूल न टाँक सकूँ । मुझसे फूल को, एक नैसर्गिक उन्मुक्त खिलाव को, एक खुलाव को, एक खिलखिलाहट को, उसके रसस्रोत, उसकी टहनी से विलग कर सकना संभव नहीं होगा । उसका दिव्य रूप-रस-गंध-पराग, उसकी भव्य बारीक महीन मुस्कान मन-प्राण पुलकित करने के लिए होती है, मसलने के लिए नहीं ।

मैं तुम्हारे लिए पुष्पहार भी नहीं बना सकता । उफ ! हार बनाने के लिए फूल को न केवल तोड़ना पड़ता है, वरन् उसके सुकुमार सीने में सूई भी उतारनी पड़ती है । नहीं, मैं फूल नहीं तोड़ सकता । नहीं, मैं फूल के जिगर में सूई नहीं चुभो सकता । मैं तुम्हारे स्वागत में, तुम्हारी अगवानी में पलक-पाँवड़े बिछा सकता हूँ, फूल की कलियाँ अथवा पंखुरियाँ नहीं ।

सूई का जिक्र आया तो न जाने कैसे-कैसे संदर्भ उद्घाटित होने लगे हैं । बकौल हजरत ईसा की सूई के छिद्र से ऊँट गुजर सकता है, परन्तु धनवान् स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता । दुर्योधन ने शांतिदूत कृष्ण को दुत्कार दिया था; सूच्यग्र बराबर जमीन भी बिना युद्ध के नहीं दे पाऊँगा । यह अवमानना न होती तो शायद महाभारत न होता । 'रहिमन देखि बड़ेन को लघु न दीजिये डार, जहाँ काम आवै सुई कहा करै तरवार ।'

सूई, धागा इसीलिए पहनती है ताकि वह जो विलग है, जो फट गया है, उसे नये सूत से जोड़े, उसे निकट लाये । परस्पर लोगों के चित्त फट जाते हैं । क्या कभी कोई ऐसी भी सूई होगी, जो इस फटे को सिल सके, रफू कर सके ? करीब ला सके उन्हें जो दूर-दूर जा पड़े हैं । यह सूई स्नेह की है, यह सूई प्रीति की है, सौहार्द-सौमनस्य की है, यह सूई ममता की है, वात्सल्य की है, दुलार की है, रस की है । यह सूई ही कहीं खो गयी है, यही कसकती है !

भाई अमरनाथ जी के शब्दों में कहूँ तो, 'कसक किसी कंथा में खो गयी सुई-सी है । खोजें तो मिले नहीं, लेटें तो चुभती है !' 'सूई दो रानी, डोरा दो रानी' के प्रसंग क्या कभी पुराने पड़ने के हैं ? ऐसी सूई को क्या मैं फूल के कलेजे में उतार दूँ ? नहीं, नहीं, हरगिज नहीं ।

प्रसंगवश याद आता है एक संदर्भ। दो दर्जियों में तकरार हो गयी। एक ने सूई उठाकर कहा—'कहे देता हूँ, खून हो जायेगा उस्ताद, फिर न कहना, हमें खबर न थी।' दूसरे ने भी सूई उठायी—'कत्ल हो जाये तो फिर दोष मत देना।' उन दोनों की बीवियाँ, दरवाजों की ओट से दुआ करती रहीं—'या परवरदिगार! खैर कर, आज बहादुरों ने हथियार उठा लिये हैं।'

कैसे-कैसे मुखौटे हैं? 'भीतर चुभन सुई की, बाहर संधिपत्र पढ़ती मुसकानें। उन पर मेरे हस्ताक्षर हैं, कैसे हैं ईश्वर ही जाने।'

मलयज की एक कहानी का नायक एक सर्जन है। वह एक रक्त-बैंक का प्रभारी है। जरूरतमंद रोगियों को रक्त देने में आनाकानी करता है, ताकि बचाया गया रक्त कण्टैमिनेटेड हो जाये। कण्टैमिनेटेड रक्त की खाद फूलों की सेहत के लिए अच्छी होती है। अपनी फुलवारी में स्वस्थ, सुन्दर फूल खिलें, मात्र इतने के लिए जरूरतमंद लोगों को रक्त न देकर, रक्त बचाना, उन्हें मरने देना, वे जो पेशेवर रक्त-विक्रेता हैं, किसी बेबसी में अपना रक्त बेचते हैं, उनका क्रीत-रक्त। वे, जो स्वेच्छया किसी उदात्त भावना के अधीन रक्तदान करते हैं, उनके पवित्र लहू का कैसा निर्मम-निष्ठुर दुरुपयोग! कैसा वीभत्स सौन्दर्यबोध! कितना अमानवीय!

माली की दूकान में सजे हुए फूल-माले, पुष्प-प्रदर्शनी, मेरे लिए कसाई की दूकान-से लगते हैं। इस पर तुर्रा यह कि 'बिन बिंधे कलियाँ हुई हिय हार क्या? कर सका कोई सुखी हो प्यार क्या?' मुझे फूलों की माला धारण किये हुए नर-नारी अंगुलिमाल और चामुण्डा मालूम होते हैं। लोग-बाग बैठकों में गुलदस्ते सजाते हैं, हिरनों के सिर टाँगते हैं। हिरन के सिर शायद हैसियत व रुतबे के प्रतीक होते हैं, अथवा सौन्दर्यबोध के, कह नहीं सकता। फिर भी मरे हुए हिरनों की पथरायी आँखें, उनकी दृष्टि को झेल पाना, मेरे लिए मुमकिन नहीं है।

नदी की धार में बहती हिरनी ने शावक प्रसव किया। हिरनी तो जाती रही, परन्तु निकट ही स्नान करते जड़भरत ने हिरनी-शावक को बचा लिया। वह उनके साथ रहा, उनसे इस तरह हिलमिल गया कि अंतिम समय में जड़भरत के प्राण उस छौने में अटके रहे। उन्होंने इधर शरीर छोड़ा और उधर मृगयोनि में जन्म लिया।

मैं बहुधा यह नहीं समझ पाता कि सुवर्ण-मृग पर शर संधान करने वाले राम, सीता-वियोग में 'तुम देखी सीता मृगनैनी' कहकर ही क्यों विलाप करते रहे? दुष्यंत मृग का आखेट ही करने गये थे और घट गयी एक उलटवाँसी,

अहेरी स्वयं अहेर हो गया। 'घायल हिरनी ने नयन-बान छोड़े / बिंध गया अहेरी अब तब दम तोड़े। टेर रहे हैं निर्झर के भीगे बैन / जल पीती हिरनी के दो बेधक नैन।'

उफ्, कैसी थीं वह माता कौशल्या, जो मचिया पर बैठकर हिरन का मांस रींधती रहीं। हिरनी अरज करती रही कि उसके हिरन की खाल उसे वापस कर दी जाये। परन्तु वह भी, राजरानी कौशल्या को गवारा न था। खाल की डफली बनी। राम जी डफली बजाते हैं और हिरनी उस डफली के स्वर को दूर जंगल में सुनती और बिसूरती है। यह है उत्तर प्रदेश में प्रचलित एक लोकगीत।

सुबुक्तगीन हिरनी के बच्चे को लेकर रवाना हुआ। ममता, वात्सल्य में बँधी-बिंधी हिरनी अपने प्राणों की परवाह किये बिना, सुबुक्तगीन के घोड़े के पीछे लगी रही। कैसी आर्त टेर थी उसकी आँखों में, कैसी दीन-दयनीय याचना छलक रही थी उन आँखों से! उसका मर्म छू गया। उसके भीतर का फौलाद मोम हो गया, उसने उसके छौने को छोड़ दिया। हिरनी की आँखों में कृतज्ञता, आभार और आशीर्वाद के रतनार रेशे उभर आये। माँ-बेटे चौकड़ी भरते हुए जंगल में खो गये। राग सारंग की टेर में बँधे-बिंधे हिरन बैजू बावरा की अभ्यर्थना करने आते रहे। कहा जाता है, हिरनी की दुआ से एक दिन सुबुक्तगीन सुलतान हुआ।

मृगनयनों की चोट हो या फूलों की, इसे विरला ही अनुभव कर पाता है। 'दे मृगनयनी या दे मृगछाला'—मृगनयनी की कामना करने वाला, मृग-वध के उपरांत उपलब्ध होने वाले मृगछाला की चाहना कैसे कर पाता है, मैं नहीं जानता। 'फुलगेंदवा न मारो श्याम, लगत करेजवा में बान' की चुभन को वही जान सकता है जो भुक्तभोगी हो। वह, जो पुष्पधन्वा है, उसके पुष्पशर का प्रहार तो अमोघ होता है। आकाशमार्ग से जाते नारद की वीणा से अपसृत पुष्पमाल इन्दुमती पर गिरती है, फूलों की चोट से ही वह अज-प्रिया इन्दुमती दिवंगता हो गयी थी। महाकवि कालिदास की करुणा ने अपने प्राणों में अज का दुःख-दर्द सहेज लिया और लोक को करुणरस का अप्रतिम आख्यान ''अजविलाप'' प्राप्त हुआ। फूलों की ओट में फुलवारी में ही राम-सिया का पूर्व राग अथवा यूँ कहें अपूर्व राग रूपायित होता है। रोहिताश्व पुष्प-चयन करने ही गया था। चाहा पुष्प, मिला सर्पदंश। कमलपुष्प-अर्पण के साथ ही गज की टेर सुनी जाती है और तक्षक, फूलों की राह से होकर ही परीक्षित तक पहुँचता है।

उस सूफी फकीर को राजाज्ञा के अनुसार मार्ग के दोनों ओर खड़े नागरिक पत्थर मारते रहे; वह हँसता रहा, पत्थरों की चोट की अवज्ञा करता रहा।

परन्तु उसी कतार में खड़े उसके एक मित्र ने जब उसे फूल से मारा, वह फूट-फूटकर रो पड़ा। उस फूल की चोट उसके लिए दुसह्य थी।

क्या था, शक्ति-पूजन में, एक कमल ही तो लुप्त हो गया था। क्या रखा था आखिर उसमें ? कुछ तो ऐसा था ही उसमें कि राजीवलोचन राम कमल के बदले अपनी आँख ही देने को तत्पर हो गये। कमल-मुख, कमल-नयन, कर-कमल, चरण-कमल, कमलोद्भव ब्रह्मा, कमलासना लक्ष्मी, गरज यह कि कमल इस तरह घुल गया है हमारी संस्कृति में कि यहाँ विद्रोह, बगावत में भी रोटी के साथ कमल ही होता है। शंख, चक्र, गदा के साथ पद्म भी एक अनिवार्यता है। कमल, पंकज होने के बावजूद अपने रूप-रस-गंध में पंक से असम्पृक्त, निर्लिप्त है।

फूलों का मौसम आता है, हमारे दिलों को छूता क्यों नहीं ? हम थिरक क्यों नहीं उठते ? खुदगर्जी, ओछे तिकड़मों में आकण्ठ गर्क, हमें कैसे कुछ छुयेगा ? प्रत्येक सत्य, प्रत्येक शिव, प्रत्येक सुन्दर, प्रत्येक शोभन से हम कतरा कर निकल जाते हैं। हम उनसे आँखें चार नहीं कर सकते।

उनसे आँखें चार करने के लिए जो निश्छलता, जो उन्मुक्तता अपेक्षित है, वह सम्पदा हमारे भीतर है ही नहीं। यही नहीं, थोड़े-से फूल हैं जो गमलों में खिलते हैं, हमें उनके खिलने से गुरेज क्योंकर होने लगा ? गण-वेश में सजे-धजे, चिकने-चुपड़े, अनुशासनबद्ध वे फूल किसे अच्छे नहीं लगते ? किस सहृदय व्यक्ति को नहीं लुभाते ? हमारी तो प्रार्थना है, वे जो चौराहों पर, फुटपाथों पर, पार्कों में, होटलों के दरवाजों पर, प्लेटफार्मों पर पिचकी हुई कटोरियों-सी हथेलियाँ फैलाये, मुरझाये हुए फूल सामने पड़ जाते हैं, वे भी खिलें, वे भी खुलें, वे भी खिलखिलायें।

ऐसी कोई बहार, ऐसा कोई वसन्त, ऐसा कोई फूलों का मौसम मेरे देश को ही नहीं, वरन् सारी-की-सारी आदमीयत को उपलब्ध हो मेरे राम !

एक रंगारंग खुशबू घर-घर को महमहाये। प्यार का एक सैलाब, एक ज्वार हमें इस कदर डुबोये, भिगोये कि हम कृतार्थ हों, अनुगृहीत हों, निहाल हों।

रामकथा : शाप की शिवमुद्रा

एक क्षण को कभी रामकथा पर एक उड़ती हुई सरसरी नजर डालो, यत्र-तत्र तुम्हें शापों की एक श्रृंखला मिलेगी। इतने ढेर सारे शाप अन्यत्र किसी एक कथा में तुम्हें देखने को नहीं मिलेंगे। इन शापों में आबद्ध रामकथा का रूप स्मरण करो, लगेगा भूत-प्रेत, पिशाच, डाकिनी, सर्प, श्मशान, चिता-भस्म, गजचर्म, महाभयानक कालकूट चर्चित स्वयं शिव हों। यह सम्पूर्ण परिवेश 'असिव वेष सिव धाम कृपाला' की उक्ति चरितार्थ होती नजर आती है। यह रामकथा, स्वयं में शिव का कथा-विग्रह है। शिव जी भरत एवं हनुमान् के रूप में कथाक्रम में निरन्तर उपस्थित हैं। शिव जी रामकथा के आदि वक्ता भी हैं।

इस रामकथा को बूंद-बूंद अपने भीतर उतरने दो, भीतर का पोर-पोर भीगे, 'रस विशेष' से पोर-पोर अभिषिक्त हो, तुम पाओगे कि तुम्हारे भीतर, तुम्हारे इर्द-गिर्द जो भी अशुभ है, अशिव है, अशोभन है, अशुचि है, वह सब-कुछ शुभ, शिव, शोभन एवं शुचि प्रदाता हो जायेंगे। शापों की ऐसी वरद मुद्रा तुम और कहाँ पाओगे ?

रामकथा के अन्यतम प्रवक्ता काकभुशुण्डि को भी गुरु की अवमानना करने के अपराध में भगवान् शंकर का शाप मिला और अन्ततः वही शाप उनके परम सौभाग्य का कारण बना। 'काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ सो लै गयो माखन रोटी' यह भले ही काकभुशुण्डि के बारे में न कहा गया हो, परन्तु उन पर पूरी तरह लागू होता है। पुरप्पा के रामायण-दर्शनम् में कौए को परिचारिका उड़ा कर भगा देती है, राम रोने लगते हैं, उसी कागा को अपनी नन्हीं-नन्हीं किसलयी हथेली से बुलाने लगते हैं। घुटुरुवन डोलते राम के चिबुक तक बह आयी लार का पान, उनकी चिबुक से चोंच सटाकर काकभुशुण्डि करते हैं। कैसा विलक्षण था वह शाप ?

इसी प्रकार गुरु महर्षि गौतम की अवमानना करने के अपराध में, सोमदत्त अथवा सौदास नामक ब्राह्मण को भगवान् शंकर का शापभाजन होना पड़ा। काकभुशुण्डि हों अथवा सोमदत्त या सौदास, दोनों ही भगवान् शंकर का ही

पूजन कर रहे थे जब उनसे गुरु की अवमानना हो गयी। गुरु के प्रति किये गये अपराध को भगवान् शंकर सह नहीं पाये। परन्तु इस शाप का फल था, कार्तिक मास शुक्ल पक्ष में रामकथा का सम्यक् श्रवण और मुक्ति।

विश्वमोहिनी का स्वयंवर, नारद का काम-विजय-अभिमान, नारद का मोह, नारद को वानरमुख की प्राप्ति, शिवगणों को नारद का शाप और अन्ततः भगवान् विष्णु को नारद का शाप, विष्णु के रामावतार के अनेक कारणों में एक विशेष कारण बनता है। विश्व को 'रस विशेष' सम्पन्न रामकथा का वरदान, नारद के शाप से ही प्राप्त होता है। इन्हीं देवर्षि नारद ने विष्णु के पार्षदों जय-विजय को शाप दिया था जो रामावतार के लिए प्रमुख हेतु बना। कमाल की बात यह है कि यही देवर्षि शाप देते हैं और इन्हीं देवर्षि नारद की सलाह पर महर्षि वाल्मीकि रामकथा रचते हैं। इन्हीं देवर्षि नारद की सलाह पर सनकादि ऋषि आदिकवि वाल्मीकि-रचित रामकथा का श्रवण-पारायण करते हैं।

निर्दोष राजा प्रतापभानु को प्रवञ्चित ब्राह्मणों का शाप। प्रतापभानु ही रावण के रूप में जनमता है। रावण, जो प्रतापभानु है, रावण, जो जय नामक विष्णु का पार्षद भी है, के उद्धार के लिए स्वयं परात्पर प्रभु को आना पड़ता है; आना पड़ता है क्या, वरन् वे स्वयं आते हैं। प्रभु जिसकी इच्छा मात्र से सब कुछ संभव है, वह न केवल स्वयं अवतरित होता है, वरन् मानव-सुलभ सभी लीलाएँ करता है, पुलकित होता है, विलाप करता है, कुपित होता है और जाने क्या-क्या। मनुष्य के प्रत्येक सुख-दुःख का सक्रिय उपभोक्ता बनता है।

अध्यात्म रामायण के अनुसार, रावण के मंत्री शुक को महर्षि अगस्त्य ने शाप दिया था। शुक को दिये गये शाप का प्रकरण भी बहुत-कुछ प्रतापभानु-जैसा ही है। शुक वेदज्ञ अत्यन्त देवोपकारी ब्राह्मण थे। उनके इस आचरण से दैत्यगण बहुत रुष्ट रहा करते थे। वज्रदंष्ट्र नाम का एक दैत्य बराबर इस घात में लगा रहता था कि कैसे शुक को क्षति पहुँचायी जाय।

एक दिन महर्षि अगस्त्य, शुक के आश्रम पर पधारे। शुक ने उनके स्वागत-सत्कार-भोजनादि की व्यवस्था की। इस बीच महर्षि कुम्भज स्नान के लिए चले गये। बस फिर क्या था, वज्रदंष्ट्र ने महर्षि कुम्भयोनि के रूप में महात्मा शुक के समक्ष उपस्थित होकर कहा—"यदि तुम मुझे भोजन कराना चाहते हो तो मांसयुक्त भोजन कराओ।" शुक ने "जो आज्ञा" कहकर मांसयुक्त भोजन तैयार कराया। महर्षि अगस्त्य के पधारने पर उस दुष्ट ने शुक की पत्नी को आश्रम में ही मूर्च्छित कर दिया और स्वयं उसका रूप धारण कर भोजन परोसने लगा। मौका पाकर उसने भोजन में नर-मांस मिला दिया था।

नर-मांस परोसा देखकर महर्षि अगस्त्य ने शुक को मनुष्य-मांसभोजी राक्षस हो जाने का शाप दिया। महात्मा शुक ने निवेदन किया—महर्षि यह तो आप की इच्छानुसार ही किया गया है। महर्षि ने ध्यान लगाकर देखा, वस्तुस्थिति समझ में आ गयी। सिन्धुपायी अगस्त्य ने शाप का मार्जन किया। रावण का दूत बनकर तुम्हें भगवान् राघवेन्द्र तक जाना होगा। उनका दर्शन करने के उपरांत तुम रावण को तत्त्वज्ञान का उपदेश करोगे और तदुपरांत राक्षस-योनि से छुटकारा पा जाओगे। राजा प्रतापभानु को दिया गया शाप हो, या शुक को मिला शाप, दोनों की परिणति कल्याणप्रद होती है।

आखेटक दशरथ, अपनी शब्दवेधी निपुणता से छले गये। अहेरी स्वयं अहेर हो गया। पानी पीते पशु के धोखे में ऋषिकुमार श्रवण को ही बींध दिया—श्रवणकुमार जो माता-पिता की सेवा का मूर्तरूप पर्याय था। श्रवणकुमार के नेत्रहीन माता-पिता ने दशरथ को शाप दिया। राजा दशरथ के पुत्रवान् होने के अनेक कारणों में वह भी एक कारण बना। इसी शाप के प्रभाववश राम को वन में जाना पड़ा। यदि राम वन न जाते तो रामकथा में वह दिव्यता, वह भव्यता, वह अलौकिक अद्वितीयता, जो आज उसमें उपलब्ध है, कहाँ से आती। अनेक राजकुमार जनमे, युवराज हुए, राजा बने, अपने हिस्से का भोग भोगा और काल-कवलित हो गये। इतिहास उन्हें विस्मृति के अतल तल में डाल देता है। ऐसा ही कोई राम हुआ होता, हमें उसका पता भी न चलता, उसका नामलेवा कोई न होता। अधुनातन युग में श्रवणकुमार-प्रकरण गांधी के बाल-मन को प्रेरणा देता है, उनके भावी जीवन की भूमिका तैयार करता है, प्रभावित करता है।

इस युग में नयी कविता के मूर्द्धन्य कवि श्री विजयदेवनारायण साही को श्रवणकुमार-प्रकरण, एक सशक्त कविता लिखने की प्रेरणा देता है जिसमें नेत्रहीन तपस्वियों का शाप एक सशक्त प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता है।

दिग्विजयी होने का कामी रावण नन्दीश्वर के वानरमुख का उपहास करता है। नन्दीश्वर कुपित होकर शाप देते हैं। रावण, तुम्हारे कुल का नाश करने के लिए मेरे समान ही पराक्रम-सम्पन्न वानर जन्म लेंगे। तपस्विनी वेदवती पर आसक्त कुचेष्टारत रावण को वेदवती शाप देती है। वह स्वयं उसका विनाश करने के लिए सीता-रूप में अवतीर्ण होती है और रामकथा की जययात्रा को आगे बढ़ाती है।

अपने दिग्विजय के क्रम में रावण ने अयोध्या के राजा अनरण्य को द्वन्द्व-युद्ध में चुनौती देकर पराजित किया और उन्हें मौत के घाट उतार दिया।

राजा ने शाप दिया; "मेरे ही वंश के दशरथ-नंदन श्रीराम; जो कुल समेत तेरा विनाश करेंगे।"

रावण द्वारा अपहृत देव, यक्ष, गंधर्व, किन्नर कन्याओं ने उसे सम्मिलित रूप से शाप दिया था कि स्त्री ही कुल समेत तेरे विनाश का कारण बनेगी। कोई भी स्त्री रावण के विनाश का कारण बन सकती थी, परन्तु स्वयं आद्या-शक्ति का सीता के रूप में अवतीर्ण होना, स्वयं भगवती का रावण के विनाश में हेतु बनना, शाप का कैसा अद्भुत प्रतिफलन है यह !

एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करता रावण शक्ति-मदान्ध हो चला था। वैश्रवण, देवताओं में धनाध्यक्ष कुबेर के पुत्र नलकूवर को समर्पिता अप्सरा रम्भा के साथ, उसके लाख मना करने, गिड़गिड़ाने पर भी रावण ने बलात्कार किया। फलस्वरूप इसे नलकूबर का शाप मिला कि यदि वह बलपूर्वक किसी ऐसी स्त्री के साथ, जिसकी इच्छा न हो, समागम करेगा, तो उसके मस्तक के सात खण्ड हो जायेंगे।

रावण ने ब्रह्मा जी के पास जाती हुई अप्सरा पुञ्जिकस्थला के साथ बल-पूर्वक रमण किया, फलतः ब्रह्मा जी ने उसे शाप दिया कि परदारा पर बलात्कार तोड़ने की कोशिश से उसके मस्तक के सौ टुकड़े हो जायेंगे।

एक बार देवताओं से पीड़ित दैत्यों ने महर्षि भृगु की पत्नी से शरण माँगी। शरणागतवत्सला ने उन्हें शरण दे दी। भगवान् विष्णु ने ऋषिपत्नी के इस अपराध के कारण, सुदर्शन चक्र से उनका मस्तक विदीर्ण कर दिया। इस पर कुपित होकर महर्षि भृगु ने विष्णु को पत्नी-विछोह का भयंकर शाप दे दिया और भगवान् विष्णु ने उस शाप को अंगीकार कर लिया। सीता-अपहरण, सीता-निर्वासन एवं सीता के धरती-प्रवेश के उपरान्त, भगवान् राम ने प्रिया-वियोग सहकर उसी शाप की चरितार्थता प्रकट की है।

अहल्या को इन्द्र कपट द्वारा भ्रष्ट करता है। महर्षि गौतम अहल्या को शिला बन जाने का शाप देते हैं। भगवान् श्रीराम की धूलि पाकर वह शिला पुनः अहल्या रूप में परिवर्तित हो जाती है। अहल्या यह प्रार्थना करती है, 'मुनि साप जो दीन्हा, अति भल कीन्हा, परम अनुग्रह मैं माना...' वह मुनि के शाप को "परम अनुग्रह" की संज्ञा से अभिहित करती है। इसी संदर्भ में महर्षि गौतम ने इन्द्र को सहस्र भग होने का शाप दे दिया। दयार्द्र ऋषि ने उन्हें सहस्र भग से सहस्राक्ष बना दिया। भगवान् श्रीराम जब दूल्हा बनते हैं, उस समय इन्द्र को सहस्राक्ष होने का लाभ मिलता है। सामान्य जन केवल अपने दो चर्मचक्षुओं से इस अनुपम छविरूप-माधुरी का पान कर रहे हैं। पंचमुख शिव दस नेत्रों से, षडानन बारह नेत्रों से, दशानन बीस नेत्रों से, दत्तात्रेय छह नेत्रों से, विधाता

ब्रह्मा आठ नेत्रों से उस रूप-माधुरी का पान कर रहे हैं। इन्द्र हजार नेत्रों से उस छवि से आप्यायित हो रहा है। उसके सौभाग्य से सभी ईर्ष्या कर रहे हैं। केवल शेषनाग ही इन्द्र से आगे हैं। वे दो हजार नेत्रों से भगवान् श्रीराम के वर-रूप का दर्शन कर रहे हैं। यह 'आज को रूप लख्यो ब्रजराज को, आजहिं आँखिन को फल पायो' की स्थिति है।

यक्षराज सुकेतु को ब्रह्मा जी के वरस्वरूप एक ताटका नाम की कन्या हुई। वह कन्या जम्भ-पुत्र सुन्द को ब्याही गयी। ताटका ने मारीच नामक एक पुत्र को जन्म दिया जिसे महर्षि अगस्त्य ने ही शाप देकर ताटका के पति सुन्द को मार डाला। प्रतिशोध-प्रेरित ताटका को सिन्धुपायी महर्षि कुम्भयोनि ने राक्षसी हो जाने का शाप दिया। यही शाप ताटका के लिए भगवान् श्रीराम के दर्शन का हेतु बना। मारीच के सौभाग्य के क्या कहने हैं "निगम नेति सिव ध्यान न पावा, मायामृग पाछे सोइ धावा।"

राक्षसराज दुन्दुभि का शव जब महापराक्रमी बालिद्वारा घुमाकर फेंका गया तो उसका लहू, चर्बी, मांस आदि सब-कुछ मतंग ऋषि के आश्रम पर जा गिरा। फलतः कुपित हो ऋषि ने शाप दिया कि यदि बालि ऋष्यमूक पर आयेगा तो तत्काल उसकी मृत्यु हो जायेगी। यही ऋष्यमूक पर्वत कालान्तर में वानरराज सुग्रीव का शरण-स्थल बना।

तुम्बरु नाम का एक गंधर्व था। वह अप्सरा रम्भा पर बुरी तरह आसक्त था। अपनी उस आसक्ति के कारण एक दिन वह कुबेर की सेवा में समय पर उपस्थित न हो सका। फलतः कुबेर ने उसे राक्षस हो जाने का शाप दिया। भगवान् श्रीराम और शेषावतार लक्ष्मण द्वारा गाड़ दिये जाने पर उस विराध नामक दैत्य का उद्धार हो गया।

कबंध को भी महर्षि स्थूलशिरा ने राक्षस हो जाने का शाप दिया था। उसे भी शाप का मार्जन बतलाया गया कि जब भगवान् श्रीराम और उनके अनुज लक्ष्मण उसकी दोनों भुजाएँ काटकर उसे निर्जन वन में जलायेंगे तो उसका उद्धार होगा। यही कबंध भगवान् श्रीराम को जानकी-उद्धार के उपाय बतलाता है।

आञ्जनेय श्री हनुमान्, जब अपने अलौकिक बल-विक्रम से ऋषियों को तंग करने लगे, तब उन्हें भी ऋषियों द्वारा बल-विस्मरण का शाप प्राप्त होता है। हनुमान् के पास इतनी शक्ति एकत्र थी कि उसके बोध से अहंकार, जो मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, जन्मता, उस शक्ति का स्मरण न रहना स्वयं में एक वरदान हो गया। केवल परमार्थ-सन्दर्भ में जब उन्हें उनकी शक्ति का स्मरण दिलाया गया, तब उन्होंने उसका उपयोग किया। इसी प्रकार नल-नील को शाप दिया

गया था कि उनके द्वारा स्पर्श-प्राप्त वस्तु पानी में डूबेगी नहीं। यही शाप समुद्र पर सेतु बनाने में सहायक हुआ।

अप्सराओं में अग्रगण्य पुञ्जिकस्थला, शापवश कपियोनि में वानरराज कुञ्जर की पुत्री के रूप में अवतीर्ण हुई। वह वानरराज केसरी की पत्नी हुई। उसी के गर्भ से एकादश रुद्र पवन-तनय भगवान् हनुमान् का अवतार हुआ। कहीं-कहीं पर अञ्जना को महर्षि गौतम की पुत्री बतलाया गया है।

तेलुगु रामायण, रंगनाथ रामायण में एक अनोखा प्रकरण उल्लिखित है। हनुमान् संजीवनी हेतु प्रस्थित हैं, रास्ते में कालनेमि और सरोवर में मकरी से उनका पाला पड़ा। मकरी उन्हें निगल जाती है। हनुमान उसका उदर-भेदन कर बाहर आ जाते हैं। वह मकरी देवकान्ता हो जाती है। वह धन्यमालिनी नाम की गंधर्व-कन्या थी। उसने अपने संगीत, नृत्य से भगवान् शंकर को प्रसन्न कर एक विमान प्राप्त किया। उस विमान से वह नित्यप्रति उस सरोवर में क्रीड़ा करने आया करती थी। एक दिन धन्यमालिनी की सद्य:जात रूपराशि पर महर्षि शाण्डिल्य आसक्त हो गये। उसने निवेदन किया, "महर्षे, मैं रजस्वला हूँ।" महर्षि ने कहा, "रजस्वला की स्थिति में तुम मेरे आश्रम में रहो, तदनन्तर मैं तुम्हें प्राप्त करूँगा।" ऋषि के चले जाने पर उनकी अनुपस्थिति में रावण ऋषि के आश्रम पर आया। उसने यह कहकर 'मुझे रजस्वला परदारा अधिक प्रिय है' धन्यमालिनी के साथ समागम किया, फलतः उसके गर्भ से अतिकाय नाम का एक राक्षस जन्मा। महर्षि शाण्डिल्य ने धन्यमालिनी को मकरी हो जाने का शाप दे दिया। फलस्वरूप उसे आञ्जनेय रामदूत हनुमान् की कृपा प्राप्त हुई।

क्यों न हो, रामकथा के आदि गायक महर्षि वाल्मीक के मुख से शाप के रूप में ही कविता-कल्याणी प्रकट हुई थी। अनुष्टुप छन्द में निःसृत शाप, मिथुन-रत क्रौंच-युग्म में नर क्रौंच का वध हो जाने से व्याध को दिया गया था। वह शाप ही आदि कविता थी। कविता, जिसकी कीर्ति-कथा कहते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं—

> राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
> कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है

गंगा की पुरागाथा : उन्मुक्त नारीत्व का जयघोष

तब मैं बहुत छोटा था। मेरी सुहागन माँ सिर पर इस तरह पल्ला रखती थीं कि उनका माथा अधखुला रहता था। चेहरा भी आधा-तीहा खुला होता था। मैं अपने घर की छत से गंगा को देख रहा हूँ, सामने के मकानों की ओट, अवगुण्ठन से गंगा का आधा-तीहा वत्सल तरल चेहरा नज़र आता है। मुझे लगा—मेरी माँ ही तो है यह, बेटे के मकान को देख-देखकर निहाल हो रही है। आतप की दु:सहन रातों में वह मुझे पंखा झल-झल कर सुलाती रही है, मेरी गंगा माँ, आभारपूर्वक स्मरण करता हूँ उसे। 'गंगे तव दर्शनात् मुक्ति:' के आश्वासन की अनुगूँज के साथ, मेरे मन में माँ की छवि हरी हो आती है। गंगा मेरी पड़ोसन है, न सौ गोती, न एक पड़ोसी।

गंगा की विराट् यात्रा सामने दृष्टिपथ पर उभर आती है, भारत का मानचित्र देखें, तो लगेगा—गोमुख से बंगाल की खाड़ी तक, गंगा, भारत के कन्धे से कटि तक यज्ञोपवीत-सी शोभा पाती है। गंगा की पुरा-कथा गंगा-सी ही है। उसका कोई दूसरा उदाहरण, उसकी कोई दूसरी उपमा नहीं है। इंद्र-सभा में गंगा नृत्य कर रही है, इन्द्र के विशेष अतिथि, महाराज महाभिषक भी हैं। दोनों परस्पर मुग्ध हैं। हवा के तेज झोंके से, वह लगभग निर्वसना हो गयी है, उसे देह की सुध नहीं है। महाभिषक भी निर्निमेष नेत्रों से उसकी रूपराशि का पान कर रहे हैं। इन्द्र कुपित होकर दोनों को शाप देते हैं। इसी शाप से गंगा की वरेण्य यात्रा का समारम्भ; महाभिषक के लिए उसकी प्रतीक्षा-साधना शुरू होती है।

गंगा हिमालय की बेटी, उमा की सहोदरा है। उमा के पहले, देवताओं ने शिव के लिए गंगा का ही हाथ माँगा था। माँ घर में नहीं थी, प्रिय-मिलन हेतु अधीरा चल पड़ी। माँ आयी, पता लगा—गंगा के अधैर्य से वह कुपित हो गयी है। माँ ने गंगा को शाप दे दिया। गंगा विष्णु-प्रिया भी है, वह विष्णु को रसमय नेत्रों से देख रही है, सरस्वती से यह सहन नहीं हुआ और उसने गंगा को शाप दे दिया। गंगा कृष्ण की अंगद्रव है, उसे देखकर राधा भी कुपित

होती है और शाप के लिए उद्यत हो जाती है। शाप, शाप और शाप से प्रारंभ होती है उसकी वरदायिनी यात्रा।

बलि को छलने के क्रम में, भगवान् वामन का पग दूसरे डग में जब आकाश मापने के लिए पहुँचा तो विधाता ने उनके चरण धोकर कमण्डल में रखा लिया, विष्णुपदी विधाता के कमण्डल में सुरक्षित हो गयी।

पुरखों को तारने के लिए भगीरथ की तपस्या के फलस्वरूप, वह ब्रह्म-कमण्डल से निःसृत होती, उसे नीचे गिरना है, अवतरण की यात्रा। माँ ने ही शाप दिया तो पिता संरक्षण कहाँ से देता, गिरती हुई को कौन सहारा देगा ? पर यह क्या, गंगा की आँखें कृतज्ञता से छलक आयीं; वह प्रिय शंकर, जिसके लिए माँ ने उसे शाप दिया, उसे सर-माथे लेने के लिए जटा बिखराये खड़ा है। कृतज्ञ गंगा ने अपनी लहर-लहर, साँस-साँस पर, कल-कल का नहीं, शंकर का हर-हर संगीत सँजो लिया।

वसिष्ठ से अभिशप्त वसुओं ने अपने उद्धार के लिए गंगा से प्रार्थना की, गंगा के लिए हो या नारी मात्र के लिए यह कठिनतम परीक्षा थी, अपने ही कोख-जायों को अपनी ही लहरों में डुबोकर उनकी इहलीला पर यवनिका डाल देना, प्राणिमात्र का उद्धार ही उसकी भूमिका थी। विधाता द्वारा सौंपी गयी इस भूमिका के निर्वाह की यह कठिनतम परीक्षा थी। परन्तु प्राप्त भूमिका के प्रति एकनिष्ठ निवेदन और समर्पण-भाव के चलते ही गंगा ने यह परीक्षा दी और सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हुई। सगर के साठ हजार पुत्रों के उद्धार के लिए अवतीर्ण गंगा को वसुओं के उद्धार से आपत्ति भी क्या हो सकती थी ?

विष्णु-प्रिया, कृष्ण-प्रिया, हर-प्रिया, शान्तनु-प्रिया, सागर-वल्लभा गंगा को शिव की जटा से पुनः भगीरथ प्राप्त करते हैं। वह एक खड्ड में घिर जाती है। भगीरथ ने विकल होकर पूछा, "यह क्या माँ ?" "वत्स, तुम ऐरावत के पास जाओ, यदि वह अपने दन्त-प्रहार से इस गह्वर की प्राचीर तोड़ दे तो मैं मुक्त होकर तुम्हारे साथ चल पड़ूँगी।" गंगा ने समाधान प्रस्तुत किया। ऐरावत ने शर्त रखी, "गंगा को इसके लिए, मेरी अंकशायिनी होना पड़ेगा—वह टच मी नाट तो है नहीं" गंगा स्वीकार करती है। मैं कल्पना करता हूँ जो उसके मन में उस समय आद्या-शक्ति का शुम्भ-निशुम्भ को दिया गया उत्तर "जो मुझ पर रण में विजय प्राप्त करेगा, मैं उसे समर्पित होऊँगी" अनुगूँजित हुआ होगा। गंगा, क्या किसी के निदेश पर विवश समर्पण देगी ? नारी पर जय पाने की कल्पना ही निरी मूर्खता है, वह तो निवेदित होती है, स्वेच्छया समर्पित होती है। ऐरावत ने दन्त-प्रहार से गह्वर की प्राचीर तोड़ी और गंगा ऐरावत

को लिये-दिये वह चली। ऐरावत को आटा-दाल का भाव मालूम होने लगा; वह आर्त स्वर में गिड़गिड़ाने लगा। गंगा, क्षमामयी ने उसे क्षमा कर दिया।

चंचला आगे बढ़ी, राजर्षि जह्नु के पूजापात्र खिलवाड़ में बहा ले गयी। जह्नु ने आचमन कर उसे उदरस्थ कर लिया। भगीरथ की प्रार्थना पर वह मुक्त होकर जाह्नवी, जह्नुसुता कहलायी। वह आगे बढ़ी, तट पर राजर्षि प्रतीप को तपश्चर्यारत पाया, राजर्षि का प्रकीर्ण पौरुष उसे भा गया, कामनामयी कामिनी वह प्रतीप के अंक में जा बैठी, उसने निःसंकोच प्रणय-याचना की। "गंगे, अधैर्य में तुमने ही भूल कर दी, तुम मेरी दायीं जाँघ पर आ बैठीं; यह तो बेटी और बहू के लिए सुरक्षित होती है। तुम यदि बायीं ओर बैठतीं तो मैं एक बार सोच भी सकता था। मेरे पुत्र-जन्म की प्रतीक्षा करो, मैं तुम्हें पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर सकता हूँ। गंगा कटकर रह गयी। भूल तो उसकी ही थी। परम अधीरा गंगा की धैर्यपोषिता सुदीर्घ प्रतीक्षा यहाँ से शुरू होती है।

अभिशप्त महाभिषक ही प्रतीप के यहाँ शान्तनु के रूप में जन्मा। हाँ, यही तो है वह मेरा प्रिय, जिसके लिए मैं युगों से प्रतीक्षारत हूँ। मुग्धा गंगा ने देखा, शान्तनु ने गंगा को देखा और दोनों, जो एक-दूसरों के लिए ही थे, समर्पित हो गये। वसुओं की मुक्ति के लिए गंगा ने शान्तनु के समक्ष बहुत कठिन शर्त रखी। तुम मेरे कार्य में हस्तक्षेप नहीं करोगे। शान्तनु ने स्वीकार किया। कहाँ तक सहते शान्तनु, सात बेटों को देखते-देखते वह मार चुकी थी। आठवें को जब वह लेकर चली, तो शान्तनु ने मना कर दिया। बस गंगा ने शान्तनु का परित्याग कर दिया। परम आसक्ति और परम विरक्ति दोनों एक ही व्यक्तित्व में एकसाथ।

गंगा राम-लक्ष्मण-सीता को आशीष देती है। गंगा पुत्रक्षति-सन्तप्ता, माहिष्मती की महारानी ज्वाला को पुत्रहन्ता, पाण्डव अर्जुन से प्रतिशोध लेने का वरदान देती है। रानी ज्वाला उसकी लहरों में समा जाती है और एक अमोघ शर के रूप में चित्रांगद, बभ्रुवाहन अर्जुन-पुत्र के तूणीर में जा बैठती है और अन्ततः अर्जुन के वक्ष में पैठ कर उनका अग्निप्राण पी जाती है। तदन्तर उलूपी अर्जुन को पुनः जीवन-दान देती है। देवव्रत भीष्म का, अप्रतिहत अपराजेय परशु-राम से संघर्ष होता है, उस अवसर पर वह पुत्र भीष्म देवव्रत के साथ खड़ी हो जाती है।

गंगा की पुरागाथा निषेध-वर्जना, कुण्ठाहीन, उदात्त मूल्यों को समर्पिता, उन्मुक्त नारीत्व की जयकथा है। वह परम अस्वीकार, परम स्वीकार साथ-साथ है। उसमें भेद नहीं है, उसमें गोपन नहीं है, वह एक खुली किताब है।

वह चरैवेति-चरैवेति का मूर्त आदर्श है। पुराणों से इतर भी गंगा-संदर्भ में किसने क्या-क्या, कितना-कितना कहा……असित गिरि समः स्यात्……जैसी विवशता है। अपनी ही दो पंक्तियों से बात यहीं स्थगित करना चाहूँगा—

"गंगा नित्य रँभाती बढ़ती, जैसे कपिला गैया,
सारा देश क्षुधातुर बेटा, वत्सल गंगा मैया।"

●

नारद : मूर्त झंकृत वीणा

बुद्ध एकदम अस्थिपंजर रह गये थे। पड़ोस से वारांगनाओं का एक समूह गाता हुआ गुजरा, 'वीणा के तारों को इतना शिथिल मत छोड़ो कि उनसे सुर ही न उठे और इतना कसो भी मत कि वे टूट ही जायें।' बुद्ध के सामने एक व्यावहारिक सत्य उद्घाटित हुआ। कभी अवधूत-शिरोमणि भगवान् दत्तात्रेय को पिंगला नामक वारांगना से शिक्षा मिली थी। आज बुद्ध ने उनसे एक सत्य का पाठ पढ़ा। लगता है, नारद ने इस सत्य का साक्षात्कार बहुत पहले कर लिया था। उन्होंने तार को शिथिल किया, तो गुंजन ही लुप्त हो गया। अधिक कसा और कसा, तो तार ही टूट गया। तब नारद ने कसाव और शैथिल्य का समन्वित सोपान स्थापित किया। एक ऐसा सोपान, जिसके चलते काल का अति-क्रमण करती वीणा की एक भुवन-विमोहन झंकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गयी।

पुराणों ने नारद का चाहे जितना गुण गाया हो, परन्तु लोकमानस में उनकी 'लगावन-बुझावन' की छवि ही स्वीकृत है। वे कलहप्रिय, चुगलखोर के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। 'नारायण-नारायण' का उनका जाप उन्हें विदूषक-मुद्रा ही प्रदान करता है। गोसाईं जी के शब्दों में कहें, तो 'हानि लाभ, जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ' मानकर ही संतोष करना पड़ता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि नारद-जैसे चरित्रों का आज के परिप्रेक्ष्य में युगानुरूप सम्यक् मूल्यांकन हो।

वीणापाणि, ऊर्ध्वबाहु, करतालधारी नारद को देखकर लगता है कि नारद एक शाश्वत नाद, एक चिरन्तन ध्वनि, स्वर-ताल, लय मण्डित एक सनातन संगीत हैं। करताल-सज्जित उनकी टेर-मुद्रा में कभी गौरांग महाप्रभु चैतन्य, तो कभी गिरिधर गोपाल के प्रेम में माती मीराँ का पूर्वाभास मिलता है। बाँस जब तक अपनी गाँठों को छिलवा नहीं देता, भीतर से एकदम रिक्त नहीं हो जाता, पोर-पोर छिदवा नहीं लेता, तब तक उससे वह बाँसुरी नहीं बनती जिससे मधुर संगीत फूट सके। स्वामी रामतीर्थ भी बाँसुरी की ओर से कहते हैं, 'मेरे भाग्य से कुढ़ने वाली गोपियो, क्या तुमने कभी देखा है कि मैं खदी से किस कदर

खाली हो गयी हूँ। सारा बदन बिंधवा डाला है, तब जाकर कहीं प्रियतम साँवरे के लाल मुलायम होठों से लग पायी हूँ। जब तक गाँठें छिल नहीं जातीं, आदमी ग्रन्थिविहीन नहीं हो जाता, जीवन-संगीत ही नहीं फूट सकता। साथ ही, यह भी सच है, जहाँ गाँठ होती है, वहीं से नये कल्ले फूटते हैं। यही ग्रन्थि, सर्जन की नयी संभावनाओं की ठौर है।

नारद, खुदी से रिक्त, ग्रन्थिविहीन वेणु के संगीत-निर्झर हैं, साथ ही, शास्त्र-सम्मत तत्त्वों के प्रति बिना किसी प्रकार की अवमानना के स्वानुभूत सत्यों के अनथक नवोन्मेषी अन्वेषक भी हैं, वृहन्नारदीय महापुराण में जब वे ज्योतिष की चर्चा करते हैं, तो लगता है, जैसे महाकाल अपनी हथेली पर समस्त ब्रह्माण्ड को लेकर अत्यन्त वत्सल भाव से भूत, वर्तमान, भविष्यत्—कालत्रय को देख रहा है। जब वे छंदःशास्त्र की चर्चा करते हैं, तो वे केवल काव्यशास्त्र, उसके व्याकरण, अलंकार पिंगल की ही नहीं, वरन् उस रस की अवतारणा भी करते हैं जिसके अभाव में, जिसकी अनुपस्थिति में अच्छे-से-अच्छे छन्द में की गयी रचना, पिरामिडों में अलंकरणों से सजी हुई ममियों के समान है जिनमें नाक-नक्श, तेवर भले ही तीखे हों, परन्तु प्राण के अभाव में वे निरर्थक हैं।

नारद, संगीत के सर्वमान्य आचार्य हैं। वीणा उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग है। संकीर्तन की तन्मयता, उसकी तल्लीनता उनका स्वभाव है। आनन्द, उल्लास उनकी प्रकृति है। उन्होंने स्वयं इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार उनका संगीतकार होने का दर्प क्षरित हुआ। एक दिन वे बीन बजाते, हरि-गुण गाते चले जा रहे थे, उन्होंने देखा कुछ अत्यन्त रूपवान् पुरुष और कुछ अत्यन्त रूपवती स्त्रियाँ अंगभंग की स्थिति में पड़े छटपटा रहे हैं। उनका मन द्रवीभूत हो गया, 'कौन हो तुम लोग ? यह कष्ट तुम्हें कैसे हुआ ? इससे तुम्हारी मुक्ति कैसे होगी?' नारद ने प्रश्न किया। 'हम राग-रागिनियाँ हैं, नारद नाम का एक अनाड़ी हमारा इस प्रकार गायन कर रहा है कि हम सब गलित अंग हो गये हैं। कोई कायदे से, ठीक से, शास्त्रीय विधि से हमारा गायन करे, तो हमारे अंग पुनः पुष्ट हो सकते हैं।' नारद को दुःखद विस्मय हुआ। उनका गर्व धूलिसात् हो गया। वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के पास गये। 'मैं राग-रागिनियों का विधिवत् गायन कर सकता हूँ, परन्तु श्रोतायोग्य पात्र होना चाहिए।' 'तुम नारायण को बुला लाओ।' सारी कथा सुनकर शिव ने उत्तर दिया। नारद पानी-पानी हो गये, उन्हें अपनी हैसियत का पता चला, 'मैं श्रोता होने लायक भी नहीं रहा।'

सर्वशक्तिमान परमात्मा 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' हारे-थके भक्त का पूर्ण समर्पण, शरणागत भाव, 'अब मैं नाच्यों बहुत गुपाल' और 'ताहि अहीर की

छोहरियाँ छछिया भर छाँछ पर नाच नचावैं' के भक्त के बस में हैं। भगवान् के बीच भक्ति और प्रेम के, भक्ति और रस के जो रेशमी मुलायम रिश्ते हैं, उनके मर्म के सूत्र को नारद भली-भाँति समझते हैं।

नारद स्वयं शूद्र योनि में जनमे थे, शूद्र माँ के गर्भ से शरीर धारण किया था। अपने भक्तिसूत्र के बहत्तरवें सूत्र में उन्होंने भक्ति एवं भक्त की दृष्टि में जाति-पाँति के भेदभाव को नकार दिया है। वही नारद वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम को सूचना देते हैं कि आपके राज्य में एक शूद्र तपस्या कर रहा है, इस कारण एक ब्राह्मण बालक का निधन हो गया है। फलतः राम के हाथ से एक अनर्थ हो जाता है। यह स्वयं में एक दुःखद आश्चर्य है; यद्यपि नारद में पर्याप्त विरोधाभास है, तथापि इस पर विश्वास नहीं होता।

हिरण्यकशिपु पर्वत पर तपस्या करने गया है। हिरण्याक्ष-वध हो चुका है। नेतृत्वविहीन दैत्यों पर देवताओं ने आक्रमण कर दिया। दैत्य पराजित हुए। स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं बख्शा गया। दैत्यराज हिरण्यकशिपु के तीन पुत्र संह्लाद, आह्लाद और ह्लाद को इंद्र ने मौत के घाट उतार दिया। दैत्येश्वरी कयाधू के गर्भ में भक्तराज प्रह्लाद थे। गर्भस्थ शिशु की हत्या के उद्देश्य से देवराज इंद्र ने साध्वी कयाधू का अपहरण किया। रास्ते में देवर्षि नारद मिले, उन्होंने कयाधू को देवराज की गिरफ्त से मुक्त किया। उसे अपने आश्रम में रखकर प्रह्लाद तथा उसकी माँ की रक्षा की। गर्भस्थ शिशु की हत्या का प्रयास इंद्र के लिए नया नहीं था। इसके पूर्व वे मारुत की हत्या करने का घिनौना प्रयास कर चुके थे। उन्होंने अपने वज्र से मारुत के, गर्भ में ही, उनचास टुकड़े कर दिये थे। वही उनचास पवन लंकादहन के अवसर पर एकसाथ चल पड़े थे।

कंस ने देवकी के प्रथम पुत्र को वापस कर दिया था, क्योंकि उसे तो देवकी के आठवें गर्भ से खतरा था। नारद कंस तक पहुँचे। उसे एक कमल का फूल दिखला कर पूछा, 'इन पंखुरियों में कौन पहली और कौन आठवीं है?' कंस ने संकेत समझ लिया, उसका माथा ठनका। उसने वापस किये गये शिशु को बुलाकर उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार देवकी की कोख से उभरने वाली छह दुधाइन चीखें उभर कर शून्य में खो गयीं।

एक ओर कयाधू के गर्भस्थ शिशु की रक्षा, तो दूसरी ओर देवकी के बेटों की हत्या में प्रेरक होना—नारद के चरित्र का यह विरोधाभास समझ से परे है। कहा जाता है, व्यापकता की यात्रा एक दिशा-विशेष की ही ओर नहीं होती, वह परस्पर नितांत विभिन्न विरोधी दिशाओं की ओर गतिमान होती है। तथापि

कोई भी तर्क इस विरोधाभास का औचित्य प्रतिपादित नहीं कर सकता। तर्क पराजित कर सकता है, सहमत नहीं। सहमति के लिए आंतरिक स्वेच्छापूर्ण अनुमोदन अपेक्षित है।

बुद्ध ने अंगुलिमाल को दस्यु के क्रूर कर्म से विरत किया। फिर उसका क्या बना, इस बारे में इतिहास मौन है। नारद ने दस्युराज रत्नाकार को क्रूर कर्म से विरत किया। न केवल विरत किया, वरन् उसे राम-नाम का ऐसा माध्यम दिया कि अंततः वह आदिकवि वाल्मीकि के रूप में जाना-पहचाना गया। राम द्वारा निर्वासित गर्भिणी सीता को वाल्मीकि के आश्रम में ही शरण मिली। नारद उन्हें जो रामकथा के प्रसंग बतलाते हैं, उस अनुक्रमणिका में सीता-निर्वासन का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः हिन्दू पुराणों के महापुरुषों के लिए चरित्र-हनन का जो अभियान चलाया गया था, सीता-निर्वासन का प्रकरण उसी आग्रहपूर्ण अभियान का एक अंग है, अवांतर हो जाने के भय से इसे मैं यहाँ नहीं ले रहा हूँ।

भारतीय वाङ्मय के दो महान् ग्रन्थ एक वाल्मीकि रामायण और दूसरा श्रीमद्भागवत महापुराण। कैसा अद्भुत सुखद संयोग है कि इन दोनों ग्रन्थों के प्रणयन में नारद ही प्रेरक रहे। श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ की रचना से तृप्त नहीं हुए। वे अशांत रहने लगे। युद्ध और विनाश के ग्रन्थ में गीतोपदेश को सम्मिलित करने के बाद भी वे बेचैन रहने लगे। तब देवर्षि नारद की प्रेरणा से उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की। भक्ति, प्रेम और रस के इस अनोखे ग्रन्थ की रचना के उपरांत ही द्वैपायन के अन्दर का बेचैन रचनाकार तृप्त, पूर्णकाम हो पाया।

ऋषि गालव के प्रति किये गये अपराध हेतु कृष्ण ने गंधर्व चित्रसेन को दण्डित करने का प्रण किया। नारद ने गन्धर्व को सुभद्रा के पास भेज दिया। सुभद्रा ने शरणागत को अभय दे दिया। सुभद्रा के कारण अर्जुन को कृष्ण के विरुद्ध गाण्डीव उठाना पड़ा और कृष्ण ने अर्जुन के विरुद्ध सुदर्शन सँभाला। युद्ध जब एक अत्यन्त विनाशक मोड़ पर आ गया, तब नारद स्वयं शस्त्रों-अस्त्रों के प्रतिरोध में एक वैष्णव विनय लेकर खड़े हो गये। इसी प्रकार अश्वत्थामा एवं अर्जुन द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्रों के बीच, नारद एक तुलसी-दल का सम्बल लेकर प्रतिरोध में खड़े हो गये थे।

इस प्रसंग के साथ ही भवानी भाई की एक रचना का प्रसंग मन-मस्तिष्क में कौंध जाता है। भारत-पाक युद्ध के दौरान युद्धोन्माद की अनेक सतही रच-नाएँ की गयीं; उसी उन्माद का शिकार मैं स्वयं भी था। उन्हीं रचनाओं के

बीच भवानी भाई का एक विवेकसम्मत स्वर उभरा—इचोगिल नहर के दोनों तटों पर खड़ी युद्धरत सेनाओं के बीच जैसे वर्जना की तर्जनी-सी प्रभावी निषेध के रूप में कोई एक कविता खड़ी हो जाये। कौन जाने वह नारद का ही वैष्णव प्रतिरोध का स्वर रहा हो ? कौन जाने वह 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए' नरसी मेहता से लेकर गांधी की सात्त्विक वैष्णव अहिंसा के प्रतिरोध का ही स्वर रहा हो।

ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड के अनुसार ब्रह्मा के नरद नामक कण्ठदेश से जन्म के कारण वे नारद कहलाये। वाराह पुराण के अनुसार नार का अर्थ होता है, जल। नार प्रदान करने वाला नारद हुआ। पितरों को जल देने वाला नारद कहा गया। नारद का अर्थ ज्ञान भी होता है। ज्ञानप्रदाता को नारद कहा गया।

मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। नारद ने धर्म के तीस लक्षण बतलाये हैं। उनके अनुसार पूजा में आठ पुष्पों का उपयोग होना चाहिए। पद्म पुराण पातालखण्ड में वे इन पुष्पों को इस प्रकार गिनाते हैं प्रथम पुष्प अहिंसा, द्वितीय पुष्प इन्द्रिय-संयम, तृतीय पुष्प दया, चतुर्थ पुष्प क्षमा, पंचम पुष्प सम, षष्ठ पुष्प दम, सप्तम पुष्प ध्यान, अष्टम पुष्प सत्य है। रामकथा में नवधा भक्ति की चर्चा है। नारद ने भक्ति के चौरासी सूत्रों की चर्चा की है। उनका भक्तिसूत्र प्रेम-रस का परिपाक, अहंकार-विसर्जन, फलतः पूर्ण आत्मसमर्पण की एक मूर्त्त प्रतीति है।

नारद के अनुसार, जितने से मनुष्य का पेट भरे, केवल उतना ही उसका अधिकार है। इससे अधिक का संग्रह चोरी है, दण्डनीय है। अपरिग्रह पर मनु, महावीर और हजरत मुहम्मद भी बल देते हैं। कबीर की प्रार्थना है, '**साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय; मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।**' इस अपरिग्रह को यदि समाज स्वीकारे, तो शोषण की गुंजाइश कहाँ रह जाती है ?

नारद, ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। जन्म के उपरांत ब्रह्मा ने उनसे सृष्टि-रचना में सहयोग करने को कहा। विरागी नारद ने सविनय अवज्ञा की। उन्होंने सांसारिक मायाजाल में फँसने से आनाकानी की, फलतः पिता ब्रह्मा ने उन्हें शाप दे दिया। नारद ने भी पिता को अपूज्य रह जाने का शाप दिया।

गंधर्वराज और उनकी पत्नी, संतान-कामना से तप करते हैं। शिव के वर-दान-स्वरूप नारद ने गंधर्वराज के यहाँ जन्म लिया। महर्षि वसिष्ठ ने उनका नामकरण किया—उपबर्हण, उप अर्थात् अधिक अथवा विशेष और बर्हण अर्थात् पूज्य, जो विशेष रूप से पूजनीय हो। उपबर्हण विशेष रूप से सुन्दर थे। उन पर गंधर्व चित्ररथ की पचास कन्याएँ मुग्ध हो गयीं। चित्ररथ ने उनका विवाह

उपबर्हण से कर दिया। उनमें से प्रमुख पटरानी का नाम मालावती था। अपनी पचास पत्नियों सहित वे ब्रह्मा के यहाँ गये और वहाँ नृत्यांगना अप्सरा रम्भा की अप्रतिम रूपराशि देखकर विचलित हो गये। पुनः वे ब्रह्मा द्वारा अभिशप्त हुए और द्रुमिल गोप की पत्नी कलावती तथा ब्राह्मण काश्यप के जार संबंध से जनमे।

पिता पहले ही चल बसे थे। पाँच वर्ष की उम्र के थे, तभी माता को सर्प ने डस लिया। माँ भी नहीं रही। पाँच वर्ष के बालक ने तपस्या की और पुनः देवर्षि पद प्राप्त किया। पाँच वर्ष के बालक की, जो तपस्या की अनुभूति थी, लगता है वही अनुभूति उन्होंने पंचवर्षीय बालक, ध्रुव के हृदय में रोप दी थी। नारद की प्रेरणा से तप करके ध्रुव परमपद के अधिकारी हुए। प्रह्लाद हों या ध्रुव या चन्द्रहास, सभी भक्त बालकों के प्रेरक नारद ही रहे। क्या यह केवल संयोग ही था, या विधाता ने सोद्देश्य उन्हें विशिष्ट भूमिका के साथ निर्मित किया था।

पचास कन्याओं के भर्ता होने के बाद भी नारद को कामिनियों के बारे में जिज्ञासा है। 'त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो ना जानाति कुतो मनुष्या' के अनुसार नारद ने यह कभी दावा नहीं किया कि वे स्त्री को भलीभाँति समझते हैं। टॉल्सटॉय ने यहाँ तक कहा है कि 'जब मैं कब्र में एक पाँव लटका दूँगा, तभी स्त्री के बारे में अपनी राय जाहिर करूँगा और चट से कब्र में घुसकर कफन ओढ़कर सो जाऊँगा, तब वह मेरा क्या कर लेगी ?' नारद, साक्षात् स्वयं भगवती उमा से कामिनियों की कुचेष्टाओं के बारे में जिज्ञासा करते हैं और पद्म पुराण सृष्टि खण्ड के अनुसार देवि उमा विस्तारपूर्वक उत्तर देकर उनकी जिज्ञासाओं का शमन करती हैं।

ब्रह्मा से वर-प्राप्ति के उपरांत शक्ति-मदांध रावण को यमलोक पर आक्रमण करने की प्रेरणा भी नारद ही देते हैं। वे चाहते हैं कि उससे अकरणीय इतना अधिक हो जाये कि भगवान् के अवतरण की संभावना निकटतर हो। वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में इसका विशद वर्णन आया है। महाभारत नलोपाख्यान पर्व के अनुसार देवताओं को उनकी औकात-हैसियत बतलाने के उद्देश्य से वे उन्हें दमयंती के स्वयंवर में भाग लेने की प्रेरणा भी देते हैं जहाँ से देवताओं को मुँह की खाकर लौटना पड़ता है।

देवर्षि नारद चाह कर भी किसी का अहित नहीं कर सकते। उन्होंने बहुधा शाप दिये, वे शाप कालांतर में वरदान सिद्ध होते हैं। उन्होंने कुबेर के दोनों पुत्रों मणिग्रीव और नलकूबर को उनकी निर्लज्जता के लिए, वृक्ष हो जाने का शाप दिया। वे दोनों नंद महर के आँगन में यमलार्जुन वृक्ष के रूप में उगे। ऊखल में

बँधे बालकृष्ण द्वारा उन दोनों का उद्धार हुआ। उन्होंने भगवान् विष्णु को शाप दिया। उस शाप के चलते भगवान् को अवतार लेना पड़ा और उनके लीलागान से लोगों का उद्धार हुआ। उनके ही शाप से विष्णु के पार्षद जय-विजय दो जन्म तक राक्षस तथा तीसरे जन्म में आततायी क्षत्रिय हुए।

हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्ण, शिशुपाल और दंतचक्र—इन तीनों जन्मों में भगवान् को वाराह, नृसिंह, राम और कृष्ण के रूप में अवतरित होना पड़ा और उनकी अमृतमयी लीला का प्रसाद लोगों को मिला।

भक्ति के चौरासी सूत्र देवर्षि नारद ने प्रतिपादित किये। उनमें केवल लफ्फाजी नहीं है। नारद ने उन्हें बोधपूर्वक आचरण में उतारा और क्रमशः स्वानुभूत सत्यों को जनहित में लोकमंगल की पूत भावना से प्रेरित होकर उजागर किया। पद्म पुराण पाताल खण्ड के अनुसार उन्होंने बालक कृष्ण और बालिका राधा के, उनके घरों में जाकर दर्शन किये। कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के रंगमहल में बारी-बारी जाकर उनका गार्हस्थ्य देखा, उनकी गृहचर्या देखी। अमृत-सरोवर में स्नान कर गोपी-भाव को प्राप्त किया। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार उन्होंने सृंजय-कन्या स्वर्णवी से विवाह किया। ब्रह्मा की पत्नी सावित्री के कहने पर वेद-सरोवर में स्नान किया और सारस्वत ब्राह्मण के रूप में जन्मे।

वाराह पुराण में इस प्रसंग का विशद वर्णन किया गया है। महाभारत शल्य पर्व के अनुसार नारद के कहने पर ही बलराम जी ने भीम और सुयोधन का गदायुद्ध देखा था। भीम के अधर्म पर वे कुपित भी हुए थे, क्योंकि सुयोधन उनका प्रिय शिष्य था। कृष्ण के समझाने-बुझाने पर ही उनका क्रोध शमित हुआ।

नारद अपने भागनेय पर्वत मुनि के साथ परिभ्रमण के लिए निकले। दोनों में समझौता हुआ कि कोई भी अपने मन का भेद दूसरे से नहीं छिपायेगा। परिभ्रमण के क्रम में दोनों राजा संजय के यहाँ पधारे। संजय ने रानी कैकेयी के साथ मुनि-द्वय का स्वागत-सत्कार किया। संजय की दमयन्ती नाम की एक रूपवती कन्या थी। नारद की रूप-माधुरी से अधिक वह उनके स्वर-माधुर्य पर मुग्ध थी। वह वीणा सीखने के क्रम में उन्हें मन-प्राण से चाहने लगी थी। नारद भी उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध थे। दोनों के परिणय की बात आयी। संजय और कैकेयी तैयार नहीं थे। दमयन्ती ने तो अंतिम रूप से नारद का वरण कर लिया था। इस बीच जब यह बात पर्वत मुनि को मालूम हुई, तो भेद छिपाने के कारण उन्होंने नारद को मर्कटमुख हो जाने का शाप दिया, तथापि दमयन्ती ने नारद

को ही वर के रूप में ग्रहण किया। कालांतर में नारद की मानसिक पीड़ा को देखकर पर्वत दयार्द्र हो आये और उन्होंने अपने शाप का मार्जन किया।

उपर्युक्त नारद-प्रसंग के अनंतर 'देवी भागवतपुराण' में देवर्षि नारद के और भी संदर्भ दिये गये हैं। नारायण ने उन्हें कान्यकुब्ज सरोवर में स्नान कराया, फलतः वे एक सुन्दर स्त्री हो गये, उन्हें पिछला सब-कुछ भूल गया। तालध्वज नामक राजा उनके यौवन-रूपराशि पर मुग्ध हो गया। उसने उनका नाम सौभाग्यसुन्दरी रखा और उनसे विवाह कर लिया। तालध्वज से सौभाग्य-सुन्दरी ने वीरवर्मा, सुधन्वा जैसे अठारह पुत्रों को अपने गर्भ से जन्म दिया। बहुएँ आयीं, पौत्र-पौत्री हुए। वे सभी क्रमशः एक युद्ध में मारे गये। इसके पश्चात् पुरुषसंज्ञक तीर्थ-सरोवर में स्नान कर वे पुनः नारद हो गये। तालध्वज जैसे पति, अठारह पुत्र, बहुएँ, पौत्र-पौत्रियों का मरण, उनकी पीड़ा क्या नारद कभी भूल पाये ? पति, पिता, पुत्र, प्रणयी, माता, पत्नी सभी सम्बन्धों को उन्होंने पूरे रसाग्रह के साथ जिया।

तपस्यारत नारद को विचलित करने की इन्द्र ने हजार चेष्टा की, उसके दर-बार की सभी अप्सराएँ असफल हो गयीं। नारद का आसन अडिग रहा। फिर क्या था, नारद को कामजयी होने का दर्प हो गया। उन्होंने भगवान् शंकर को अपनी उपलब्धि बतलायी। उनका आशय था कि एक तुम्हीं कामजयी नहीं हो, हम भी हैं। भक्तवत्सल भगवान् शंकर ने उन्हें मना किया, 'यह कथा विष्णु को मत सुनाना।' परन्तु नारद क्योंकर मानते ? उन्होंने विष्णु को भी वह कथा सुनायी। फलतः रामचरितमानस का वह बहुश्रुत प्रसंग घटित हुआ। विष्णु ने उन्हें मर्कटमुख प्रदान कर दिया। विश्वमोहनी के पीछे-पीछे दीवानों-से घूमते नारद उपहासास्पद सिद्ध हुए। उन्होंने विष्णु को भी शाप दिया। परिणामतः रामावतार हुआ और लोक को रामकथा का अमृत उपलब्ध हुआ।

भगवान् ने देवर्षि नारद से गार्हस्थ्य में रहते हुए, सांसारिकता का निर्वाह करते हुए हरि-स्मरण करने वाले भक्त की श्रेष्ठता बतलाने के लिए उन्हें एक तेल-भरा कटोरा दिया और निर्देश दिया, 'इसे अमुक स्थान से अमुक स्थान तक ले जाइए।' कार्य-सम्पादन के उपरांत नारद विष्णु तक पहुँचे। भगवान् ने पूछा, 'तेल का कटोरा गंतव्य तक पहुँचाने के क्रम में, क्या आपने हरि-स्मरण किया ?' 'कहाँ प्रभु ! मेरा तो सारा ध्यान, कटोरे से तेल छलकने न पाये, इसी प्रयास की ओर था, मुझे रंचमात्र आपका स्मरण नहीं आया।' नारद ने उत्तर दिया। 'अब सोचो, वह गृहस्थ, जो अहर्निश सांसारिकता का निर्वाह करता हुआ विषम परिस्थितियों में भी मेरा स्मरण करता रहता है, कैसी विलक्षण है

उसकी साधना ? कैसी दिव्य है उसकी भक्ति !' भगवान् की निष्पत्ति पर नारद सहमति में नत हो गये ।

ज्ञान, योग, वैराग्य पर भक्ति की श्रेष्ठता का नाम ही नारद है । ज्ञान और योग की इमारत, निष्काम कर्म की निष्ठुर-निष्ठा-भूमि पर खड़ी होती है; उसका राज-प्रासाद कर्म की साधना-भित्ति पर आधारित है, परन्तु भक्ति की पर्णकुटी स्नेह, प्यार, ममता की आर्द्र-ऋजु-स्निग्ध भूमि पर अवलम्बित है । भक्ति में एक सोपान ऐसा होता है जब भक्त और भगवान् अन्योन्याश्रित हो जाते हैं । महादेवी जी के शब्दों में कहूँ तो उपासक का वर्चस्व ही उपास्य का वर्चस्व होता है । भक्त एक मूर्त कृतज्ञता, एक साकार आभार, एक अविरल विसर्जन, एक तरल निवेदन; एक प्रणामाञ्जलिबद्ध समर्पण, एक ऋजु विनय है । प्रार्थना जब देह धारण करती है, तब एक भक्त, एक नारद उपलब्ध होता है ।

फागुन : पाहुन सावन के गाँव का

जब तुम्हें लगे, कि तुम्हारे पोर-पोर में एक पिरोती हुई मिठास पेंग भर रही है, एक प्यारी टूटन-मरोर रेशा-रेशा भिन रही है, जब कोई परायी खुशबू तुम्हारी साँसों में तुम्हारी अपनी सगी आत्मीय होकर, घुल-मिलकर भीतर, बहुत भीतर उतर रही है, नस-नस, शिरा-शिरा, धमनियाँ उस कली की चटखन से चटख रही हैं जिसके गाल में किसी शोख पवन ने चुटकी भर ली है और वह लाजवन्ती छुई-मुई दोहरी होकर चटख गयी है, खिलखिलाकर खिल गयी है तो यह मानना कि मैं तुम्हारे एकदम करीब आ गया हूँ—इतना करीब कि मेरी साँसें तुम्हारे कान के लवों को छू रही हैं, इतनी पास कि तुम्हारी साँस मेरी गरदन को सहला रही है। इतनी सारी पहचान के बावजूद एक नाम चाहिए जिससे तुम मुझे गाहे-बगाहे टेर सको, पुकार सको।

यह टेर क्या होती है? बाँसुरी जब अपनी बेखुदी में, अपनी रिक्तता में कृष्ण की महकती साँसों को मन-प्राण में एक पुलक के साथ पिरोती थी, तो ग्वाल-बाल, गोपियाँ, राधा तो क्या, कदम्बवन में पशु-पक्षी, चर-अचर, जड़-चेतन सभी एकसाथ स्पन्दित एवं आनन्दित होते थे। टेर एक प्यास है जिससे पपीहा पिउ-पिउ का नाम संकीर्तन करता है, स्वाति घन को टेरता है।

हाँ, तो उसी टेर के लिए तुम्हें चाहिए एक नाम। तुम मुझे फागुन कह सकती हो, फागुन जो अपने साथ सावन की अवतारणा करता है। सावन, जिसके साथ ही हमारे भीतर एक हिंडोला झूलता है, एक घटा घिरती है, अबीर-गुलाल के मेघ उमड़ते-घुमड़ते हैं जिन्हें देखकर थिरक उठता है मन-मयूर—

फागुन के घन गुलाल बरसो,
पाहुन, तुम सावन के गाँव के,
कर आये फागुन उमराव के,
बेमौसम आये तो क्या हुआ,
तुमने है मन कितनों का छुआ,
बरसो घन, यह मुहूर्त टल रहा,

कब से यूँ आज कल कि परसों,
फागुन के घन गुलाल बरसो ।

फागुन—इस नाम के साथ ही रूप का, रस का, गंध का, स्पर्श का, रंग का, राग का एक ऐसा आग्रह जुड़ा हुआ है कि उसे अस्वीकार कर सकना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है ।

कभी बृजराज अधीर होते थे । सुना है अब वह अधीर नहीं रहे । हाँ, तो उन्होंने कभी कहा था, कहा ही नहीं, गाया भी था—'फागुन तुम गये, मगर एक गंध छोड़ गये ।' यह गंध क्या है. यह गंध वह तो नहीं है जिसके चलते भीतर मिसरी घुलती है, लड्डू फूटते हैं, निर्झर फूटते हैं, लहरें थिरकती हैं । यह गंध वह तो नहीं है जिसने महर्षि पराशर को विचलित, उद्वेलित कर दिया था, जो मत्स्यगन्धा सत्यवती के रूप में मूर्त हुई थी । परिणामतः युग को प्रसाद-स्वरूप श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास मिले थे । महर्षि पराशर के इस अवदान को, सत्यवती के इस वरदान को जमाने ने कृतज्ञतापूर्वक सिर-माथे लिया था । सुना है, बृजराज की देह से कस्तूरी, कर्पूर, केशर, अगरु, चन्दन और कमल की मिश्रित सुगंध विकीर्ण होती थी ।

यह रस है ब्रह्म, 'रसो वै सः' यह रस है जिसके अंतर्गत 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर नाच नचावैं', जिसके अधीन सरकार कच्चे धागे से बँधे चले आते हैं । यह रस है जीना जिन्दादिली के साथ । यह रस है जो हमें सरल-तरल-ऋजु-स्निग्ध-सुकोमल बनाता है :

'किसी फूल से लिपटी हुई,
तितली को गिरा कर देखो,
आँधियो ! तुमने तो
दरख्तों को गिराया होगा ।'

और यह स्पर्श ! यह स्पर्श है—छुअन । इस छुअन की प्रतीति आहट से होती है, स्मरण से होती है । इस छुअन से अभिशप्त शिला अपनी जड़ता छोड़कर अहल्या हो जाती है । एक छुअन सतह से होकर गुजर जाती है । एक छुअन है जो अतल तल में पैठती है, सिहरन देती है, रोमांच देती है । लोग-बाग मुसकान से छूते हैं, चितवन से छूते हैं, कनखी से छूते हैं ।

हम उनकी नहीं जानते जो अछूते रह जाते हैं । उनको कोई घटना, कोई सुधि, कोई गंध, कोई रूप, कोई रस छू नहीं पाता । 'वे सबके भले' होते हैं, उन्हें 'जगतगति' नहीं व्यापती । उनका ठसपन और उस ठसपन का कौमार्य अक्षत रहता है । भोज-प्रबंध का एक संदर्भ याद में कौंध जाता है । एक रूपसी धान कूट रही है । मूसल को संबोधित कर राजा भोज कहते हैं—'कोई

कहता तो मैं विश्वास नहीं करता, देख रहा हूँ मूसल तुम निरे काठ हो। इतने मधुर स्पर्श के बाद भी तुममें रोमांच नहीं होता, तुममें सिहरन नहीं होती, तुम फूलते-फलते नहीं ?"

विराग को मैं राग का विलोम नहीं मान पाया। मेरे निकट राग विरक्ति नहीं है। विराग उदासीनता का पर्याय भी नहीं है। विराग, राग का निषेध नहीं है। यह तो विशिष्ट राग है—त्यागमय भोग ही राग है। विराग की यात्रा राग से होकर गुजरती है।

कमल को लोग-बाग असम्पृक्त कहते हैं। मुझे यह स्वयं में सत्य नहीं लगता। कमल जल से निरपेक्ष नहीं होता, जल उसके वजूद की एक अनिवार्य शर्त होता है, वह जलसापेक्ष होता है, जल से, पंक से होता हुआ जल से ऊपर, पंक से ऊपर। नाद, ध्वनि, स्वर, आलाप जब भी एक विशिष्ट व्यवस्था के अन्तर्गत संयोजित होते हैं, वे राग की, रागिनियों की श्रेणी में आ जाते हैं।

यह राग है जो हमें माता-पिता, पत्नी-प्रिया, भाई-बहन, मित्र के रेशमी रिश्तों से जोड़ता है। यह राग ही है जिसकी विकृति हमें ओछा, स्वार्थी बनाती है। यह राग है जिसका उदात्तीकरण हमारे भीतर के पशु को मनुष्यता के भव्य-दिव्य संस्कार से सम्पन्न करता है और हमें देवत्व के लिए भी स्पृहणीय हैसियत प्रदान करता है। यही वह विशिष्ट राग है—विराग, जिसके अधीन सारी विरक्ति, सारी उदासीनता के बावजूद ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, संत ज्ञानेश्वर और संत एकनाथ जैसे महात्मा शुष्क और नीरस नहीं होते, उनमें अहर्निश एक प्रीति का प्लावन उपस्थित रहता है। प्राणी-मात्र का सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख होता है। सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है। यह हम पर निर्भर करता है कि विधाता से प्राप्त इस राग को हम अपने लिए वरदान बनाते हैं या अभिशाप। यह विराग वह महाराग है जिसकी छाँव में हम रोम-रोम भीगते हैं।

और यह रंग क्या है ? यह रंगकर्म में क्या है ? यह रंगमंच क्या है ? यह रंगनाथ, यह रंगकर्मी कौन है ? यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे। प्रकृति को नियन्ता ने विविध विधि रंगमयता से सम्पन्न किया है। बाहर जितने रंग हैं, वे सब हमारे भीतर के रंग हैं। परन्तु हमने जो रंग बनाये हैं, वे हमारा पूरा-पूरा रूपायन करने में एकमात्र अपर्याप्त होते हैं। हमारे भीतर कभी गुलाब का रंग होता है तो कभी गेंदे का, वासन्ती अथवा केशर रंग। टेसू, रोली, गुलाल का रंग होता है। कभी अमलतास का पीला हल्दिया सुनहरा रंग होता है तो कभी सरसों का पियरी रंग होता है।

इन रंगों में एक ही रंग की प्रसंगानुकूल सन्दर्भों के अनुसार अनेक संवेदनाएँ होती हैं। अमर्ष से आरक्त मुख लाल होता है। लाज से रंजित मुख भी ललछर अथवा अरुणाभ होता है। क्रोध में, मद में, प्रीति में, रुग्णता में आँखों के डोरे लाल ही होते हैं। यदि अनुराग का रंग लाल है तो कांति की पताका भी लाल होती है। 'लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल…' अथवा 'वही दौड़ायेगा लाली लहू की मेरे लालों में, भरा है जिसने एजी दूध इन औंधे प्यालों में।' लोहिरा हो, रक्ताभ हो, अरुणिमा हो, लालिमा हो, अरुणिभ हो, ललछर हो, सबकी अपनी-अपनी, अलग-अलग अपील होती है। अभिप्राय यह है कि रंगों के इतने छायान्तरों को अभिव्यक्ति देने के लिए हमारे पास यथेष्ट रंग नहीं है।

मेरे भीतर का आनन्द उदास था, मेरे अन्दर की प्रसन्नता अनमनी थी। अस्तु मेरे संकल्पपूर्ण मन में एक निश्चय अंकुर उगा और मैंने अपने अंतरतम से रंगों के फव्वारे छोड़ने शुरू किये। देखते-देखते सारी फिजा रंगीन हो गयी।

हजार सजाना चाहता हूँ, रंगों को खुले दिल, खुले जिगर से, पर एक रंग है कालिख जो हमारे आचरण के चलते हमारे मुखों पर पुत गयी है। इस पर दूसरा रंग चढ़े भी तो कैसे? एक ओर आक्रामक बेईमानी और दूसरी ओर असहाय-निरुपाय-विवश ईमानदारी। इतनी लाचार कि ईमानदारी मूर्खता का पर्याय होकर रह गयी है। क्या कभी ऐसा होलिका-दहन भी होगा जिसमें से कुन्दन की तरह दमकता हुआ हमारा प्रह्लाद बाहर आयेगा और हमारे देश का वह सब कुछ भस्मसात् हो जायेगा जो अशुभ है, अशिव है, अशोभन है जिसके चलते देश, देश नहीं रह गया। एक भठियारखाना उभर आया है हमारे दिल, दिमाग और जेहनों में।

उजलापन कितना काला होता है, धवलिमा की अपनी कालिमा होती है। उसे देखना, परखना, बूझना हो तो हाथ कंगन को आरसी क्या, शुभ्र खादी परिधान में सजे-बजे आज के नेताओं को देखें। शौर्य और त्याग से सड़ाँध आ गयी है। इसे समझना चाहें तो देखें गैरिकवसना दूकानों को, जो देश में यत्र-तत्र-सर्वत्र फैली हुई हैं। इनमें अपवादों के छोटे-छोटे द्वीप भी हैं, उनसे क्षमा-याचना के साथ कहना चाहूँगा कि वे एकदम अलग-अलग अकेले प्रभावहीन नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह रह गये हैं। एक पराजित मानस फिराक की पंक्तियाँ दुहराता है—'हम जहाँ हैं वहाँ अब अपने सिवा एक भी आदमी बहुत है मियाँ।'

यदि एक रंग को याद न करूँ तो वह मेरी घोर कृतघ्नता होगी। कृतघ्नता से बड़ा कोई पाप नहीं होता। वह रंग है—'मेरा रंग दे बसन्ती चोला।' इसी रंग

में भगतसिंह ने छोड़ा बम का गोला······गांधी की लाश को हमने चौराहे पर नंगी करके नीलाम कर दिया । सावधान ! साजिशों के षड्यन्त्रों के घिनौने हाथ अब चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह की लाशों को सजा रहे हैं—गिद्ध मँडराने लगे हैं—सियार और कुत्ते अपनी-अपनी घात में लगे हुए हैं । तैयारी हो रही है उनकी लाशों को नग्न कर चौराहे पर नीलाम कर देने की ।

बड़ी उम्मीद से, आदर-श्रद्धा से गया था शहीदे आजम आजाद के बलिदान अर्द्धशताब्दी समारोह में । स्वाधीनता-संग्राम में सभी सेनानी थे, शायद सैनिक कोई नहीं । एक आशा थी कि बलिदानियों का आग्नेय हरावल दस्ता हमें अन्याय का प्रभावी प्रतिकार करने के लिए प्रेरित कर सकेगा । परन्तु वहाँ तो दृश्य ही कुछ और था । सभी शिविरों में विभक्त थे । शहीदों की नहीं, शिविर-स्वामियों की जय-जयकार हो रही थी । ठीक ही तो है, पेंशन के भाव बिके हाथ, व्यवस्था के हाथों हो रहे अन्याय के विरुद्ध कैसे उठ सकते हैं? एक तिनके का सहारा था डूबते हुए देश को, वह भी हाथ से छूट गया ।

हमें इस रंग पर्व पर तलाश है—वास्तविक धवलिमा की, वास्तविक गैरिक-वर्ण त्याग की, बसन्ती चोले की । कामना करता हूँ, विश्वास है, भरोसा है, निराश नहीं करेंगे और हमारी तलाश को एक सार्थक वांछित उपलब्धि प्राप्त होगी । आमीन !

कभी तरुणाई ने अपना परिचय उद्घाटित किया था—स्वयं भी मन में एक ग्लानि उभरी थी—'तरुणाई ज्वालामुखी का पर्याय है, इस वय में केवल बलि ही व्यवसाय है ।' कभी तरुणाई ने अपनी सार्थकता उजागर की थी—'बलिवेदी को भेंट हुआ जो मस्तक है, उसकी ही तो भरी जवानी सार्थक है ।' फागुन उसका है, यौवन जिसका है । होली उसकी है, जवानी जिसकी है । होली तरुणाई का पर्व है । तरुणाई—जिस वय मे सामर्थ्य और क्षमता चरणचेरी होती हैं, भुजाएँ अक्षांश और देशांतर होती हैं । इस उम्र में पाँव नहीं, केवल पंख होते हैं । शीश कन्धों पर नहीं, हथेलियों पर होते हैं । फागुन ऐसी तरुणाई का है । होली ऐसी हणिबानी के लिए है । हमारे इर्द-गिर्द जो जवानी बिखरी पड़ी है, उसकी दिशाहीनता के लिए हम जिम्मेदार हैं । हाँ हम, जिन्होंने अपने आचरण से उन्हें कोई स्वप्न, कोई आदर्श, कोई मूल्य, कोई सिद्धांत नहीं दिया । हमने स्वयं निरुद्देश्य जीवन-यापन किया, फिर उन्हें उद्देश्य देते भी तो क्या ? हमें ही इस पातक का प्रायश्चित्त करना होगा, तभी केवल, तभी हमारा वांछित फागुन, हमारी वांछित होली ख्यायित होंगे ।

प्रेम की प्रतीति

मेरे भीतर यदा-कदा बराबर एक प्रश्न, एक जिज्ञासा, एक कुतूहल अनुगुञ्जित होते रहते हैं। आखिर यह प्रेम है क्या ? मुझे बराबर यह लगा है कि प्रेम भाव के तल पर एक यात्रा है जो अनुभव से अनुभूति के मध्य सम्पन्न होता है। काश ! मुझे प्रेम की पूर्ण तो क्या, न्यूनतम आंशिक प्रतीति भी होती। तिस पर तुर्रा यह कि मैं प्रेम की प्रतीति के संदर्भ में कुछ लिखने बैठा हूँ। 'We look before and after and pine for what is not.' प्रेम के आस-पास का आभास, एक अनुमान कभी-कभी मेरे अंदर से होकर गुजरता है। मैं मात्र इतने से निहाल हो जाता हूँ। इससे अधिक की पात्रता ही नहीं रही, फिर पाता कहाँ से ? पाने की वाञ्छा के लिए प्रेम में कोई गुंजाइश नहीं है। प्रेम में मात्र देना होता है, देना भी ऐसा जिसमें दाता के अहं का निषेध होता है। अहं तो क्या, देने के गौरव और तोष की भी मुमानियत होती है। देना भी ऐसा कि जिसमें रीझना-सीझना और छीजना, रीतना और बीतना, चुकना और व्यतीत होना, तिल-तिल कर रेशा-रेशा स्वयं के सम्पूर्ण को दे देना होता है। देना भी ऐसा जिसमें दाता को देने की एक कृतज्ञता, एक आभार की विनम्र प्रतीति होती है। प्रेमास्पद ने मेरा देना स्वीकार कर मुझ पर कृपा की है। उसने करुणावश मेरे अकिञ्चन देने को स्वीकार किया है, यह उसकी असीम अनुकम्पा है, यह उसका अपार अनुग्रह है। प्रेमी टेरता है, पुकारता है, वह चिनगी चुगता है, याचना नहीं करता। प्रेम एक तल्लीनता है। प्रेम एक तन्मयता है। मुझे नहीं मालूम कब मनुष्य ने इस भाव को प्रेम के नाम से अभिषिक्त किया ? मुझे नहीं मालूम कब यह भाव मनुष्य के अंतःकरण में शब्द बनकर उतरा ? प्रेम भले एक शब्द हो, तथापि नितान्त लौकिक धरातल पर भी वह एक अलौकिक निःशब्द छन्द है। एक शब्दातीत लय, भाव, स्वर, नाद, ध्वनि और अनुगूँज है। यह एक शब्द है, निरा शब्द नहीं, छूँछा शब्द नहीं, वह अर्थबोध और मर्म से सम्पन्न है। यह एक क्वाँरी, अनाघ्राता सुगन्ध है।

प्रेम जब पाने की वाञ्छा करता है तो वह अत्यन्त घिनौना हो जाता है। उसका आग्रह होता है 'Love me and love my dog.' परन्तु वह, जो प्रेमी

है, वह अपने प्रियतम से कहता है, 'तुझे चाहूँ, तेरे चाहने वालों को भी चाहूँ।' इंद्रधनुष में सात रंग होते हैं, प्रेम के रंगों की गणना सम्भव है क्या ? प्रेम पूर्ण विसर्जन की माँग करता है,या यूँ कहें कि प्रेम में एक पूर्ण विसर्जन अथवा समर्पण घटित होता है। इस सम्पूर्ण विसर्जन अथवा समर्पण के अभाव में प्रेम की अवतारणा सम्भव ही नहीं है। कबीर कहते हैं—

प्रेम गली अति साँकरी यामे दुइ न समाय।
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाय।।

प्रेम पूर्ण उत्सर्ग की अपेक्षा करता है। ज्येष्ठ की तपती धूप, कुएँ की जगत से लगे पत्थर पर गागर-रस्सियों के आने-जाने से, उसकी रगड़ से एक हलका-सा गढ़ा बन गया है जिसमें बमुश्किल तमाम एकाध चम्मच पानी है और वहीं एक पक्षी जोड़ा मरा पड़ा है। कोई राहगीर, जो संयोगात् सहृदय है, वह पूछता है, 'जल के रहते यह पक्षी प्यासे ही क्यों मर गये ?' उत्तर मिलता है—

जल थोड़ा नेहा घना, लगी प्रीति को बान।
तू पी तू पी कहि मरे एहि विधि त्यागे प्रान।।

संस्कृत कवयित्री विकटनितम्बा अथवा विज्जिका कहती है—प्रणय, परिणय, प्रीति-सम्भोग का वास्तविक मूल्य तो ऊर्णनाभ अर्थात् मकड़ा देता है, क्योंकि जब मादा ऊर्णनाभ सुख की चरम स्थिति में होती है, तो वह मकड़े का सिर काट कर खा जाती है। वस्तुतः यही है प्रेम का मूल्य, जिसे प्रेमी हौसले से देता है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे भुँइ धरै तब पैठे घर माँहि ।।

ऊर्णनाभ जानबूझकर चेतना के धरातल पर यह मूल्य नहीं देता, ऐसा हम कह सकते हैं, परन्तु सीस उतार कर भुँइ धरने की बात जब कबीर कहते हैं, तो उनका तात्पर्य है—सीस अहंकार का प्रतीक है, उसके पूर्ण त्याग के उपरांत ही प्रेम-सदन में प्रवेश सम्भव है।

प्रेम नितान्त वैयक्तिक निजी अनुभूति है, इसमें किसी का साझा नहीं है। प्रेम उत्सर्ग माँगता है, प्रेमी प्रतिदान की अपेक्षा ही नहीं करता। प्रेम की प्रतीति परमात्मा की प्रतीति है। यह विश्वात्मा से निखिल ब्रह्माण्ड से एकात्म होने का पर्याय है। यह सीमित है, यह निस्सीम है। मैंने कहा न इसके अनेक रंग हैं—

घटके मैं इक मुख्तसर-सा लमहा हूँ,
बढ़के मैं एक नातमाम अरसा हूँ।

यह ढाई आखर का एक बीजमंत्र है जिसकी सिद्धि में ही सब कुछ है। यह शिव-पार्वती है जिनकी परिक्रमा में ही प्रथमपूज्य गणेश अखिल की परिक्रमा का

श्रेय प्राप्त करते हैं। इसकी सिद्धि में ही जीने की, जीने की क्या, मरने की भी सार्थकता है। कबीर यहाँ फिर हमारी सहायता करते हैं—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै, सो पण्डित होय ।।

प्रेम एक पिराता हुआ एहसास है, एक सहता-सहता, एक अनसहता-अनसहता-सा दर्द है--

जो मैं ऐसा जानती प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती प्रीति न करियो कोय ।।

जिनके पाँव बिवाई न गयी हो, वह इस 'पीर' को क्या बूझेगा ? घायल की गति घायल ही जानता है--

एक किरकिरी के पड़त नैन होंय बेचैन।
वे नैना कैसे जियें जिन नैनन में नैन ।।

प्रेम गूंगे का गुड़ है, यह वह लड्डू है जिसे खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय। मुगल शहजादी की रुसवाई न हो, मात्र इतने के लिए प्रेमी दरोगा देग में आलू की तरह उबल जाता है, उफ नहीं करता।

प्रेम रस पीकर जिया जाता नहीं
प्यार भी जीकर किया जाता नहीं
बिन बिंधे कलियाँ हुईं हिय हार क्या
कर सका कोई सुखी हो प्यार क्या ?

अलग-अलग रहने की तकलीफ जब बर्दाश्त से बाहर हो गयी, तब महान् प्रेमी भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—आओ हम दैहिक धरातल पर भी नित्य अभिन्न हो जायँ। फलतः वे अर्द्धनारीश्वर हो गये। कुछ समय पश्चात् शिव ने सोचा, यह कैसी अभिन्नता ? न चुम्बन का सुख, न आलिंगन का सुख, न परिरम्भण का सुख, न प्रतीक्षा का सुख और तब एक शाश्वत अद्वैत ने द्वैत माँग लिया। शिव और उनकी नित्य-प्रिया पार्वती अलग-अलग हो गये। जीव और परमात्मा का द्वैत जब ब्रह्म को खलने लगा तो उसने कहा, 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति'। परन्तु यह क्या ! यह अकेलापन, यह एकान्त, एक सुनसान वीरान सन्नाटा, यह तो उसका काम्य नहीं था, उसने फिर इच्छा की 'एकोऽहं बहुस्यामि' और सृष्टि पैदा हुई, उसे उसका अभीप्सित मिला। यह प्रेम है जो जीवन को, जगत् को धारण करता है, यह प्रेम है जो उपनिषद् का रसमय ब्रह्म है, यह प्रेम है जो रसप्रधान सृष्टि करता है।

प्रेम के अनेक रंग हैं। उसकी अनेक मुद्राएँ हैं, उसकी अनेक भंगिमाएँ हैं, उसके अनेक तेवर हैं, कभी शालीन, कभी सौम्य, कभी शोख तो कभी चुलबुली, कभी उदास तो कभी प्रफुल्ल। प्रिय अपनी अनुपस्थिति में जब विशिष्ट रूप से उपस्थित रहता है तो वही विरह कहा जाता है। उस अवधि का विशिष्ट योग ही वियोग है। प्रिय का मिलन केवल एक अवसर अथवा मौका नहीं है। उस अवधि में सम्पूर्ण योग घटता है, इसलिए वह संयोग है। वह जब भीतर की ऊष्मा में रसता-बसता है, शनैः-शनैः मद्धिम आँच में पकता है तो गोपियों का वह तर्क प्रस्तुत होता है जिसके सामने निर्गुणवादी उद्धव स्वयं को निरुत्तर पाते हैं और 'नेकु कही बैनन अनेक कही नैननि सों रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों' की उस आकण्ठ गद्गद स्थिति में स्वयं को पाते हैं जिस स्थिति का चित्र गोस्वामी जी पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं—'अतिसय पुलक प्रीति अति बाढ़ी, सजल नयन रोमावलि ठाढ़ी।'

स्वकीया पद्मावती के अनुराग के रंग में रँगे-डूबे गीतगोविन्दकार महाकवि जयदेव पद्मावती-चरण-चारण चक्रवर्ती हो गये। परकीया रामी ने चण्डीदास को प्रेम की अन्यतम अन्तरंग झाँकी दिखलायी। जब एडवर्ड अष्टम के भीतर महान् प्रेम का आविर्भाव होता है तो वे मैडम सिम्पसन के लिए ब्रिटिश सिंहासन का तृणवत् त्याग कर देते हैं। प्रेम सीमाएँ अस्वीकारता है, प्रेम सभी सीमाएँ, लौकिक मर्यादाएँ अस्वीकारता है। उसके अधीन धर्म एवं मृत्यु का देवता यम सहोदरा यमी की कामना करता है। वर्ड्सवर्थ बहन डोरोथी की कामना करता है। यह सब एडिपस ग्रन्थि किंवा ब्रह्मा और सरस्वती प्रकरण के उन्माद, अपराध अथवा पातक-बोध की तहत नहीं होता।

राम और भरत के चरणों के बीच अयोध्या का राज्य फुटबाल बन जाता है। प्रेम है जो बरसात की बढ़ी यमुना को पार करने के लिए शव का सहारा लेता है, सर्प को रज्जु बनाता है और इन सोपानों से होता हुआ राम तक की यात्रा सम्पन्न कराता है।

प्रेम कभी ममता है तो कभी दुलार, कभी वात्सल्य है तो कभी स्नेह, कभी राग है तो कभी विशेष राग अर्थात् विराग है, कभी रूप है तो कभी शृंगार, कभी रस है तो कभी मान, कभी रूठना तो कभी मनाना। कभी प्रेम के वशीभूत परात्पर प्रभु 'छछिया भर छाछ' पर नाचता है तो कभी 'साटी लिये उगलावत माटी' की प्रताड़ना झेलता है। कभी—'जब धनुष बाण लेव हाथ' अथवा 'आज जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ' की आन के आगे अपनी आन तिनके की तरह तोड़ देता है और पराजय में सुख महसूस करता है। कभी शबरी के जूठे बेर

खाता है, कभी दुर्योधन के मेवा छोड़ कर विदुर के घर साग खाता है। कभी गज तो कभी पांचाली की टेर पर दौड़ता है, तो कभी 'नैनन के जल सों पग' धोता है। कभी पिता बाबर के शत्रु राणा साँगा की विधवा रानी कर्मवती की टेर पर हुमायूँ, कभी बेलु नाचियार की टेर पर टीपू सुलतान की तरह राखीबंद भाई बनकर अपनी सल्तनत खतरे में डालता है।

वह पतिपरायणा है, सुन्दर भी है। इसमें उसका क्या दोष है? मनिहार उसे चूड़ी पहनाने के लिए उसका हाथ अपने हाथ में लेता है, इतना सुन्दर हाथ जितनी देर हाथ में रहे अच्छा है। वह जान-बूझकर एक-एक चूड़ी कलाई तक पहुँचने के पहले चटका देता है। उसे यह अपेक्षा है कि जब तक अन्तिम चूड़ी तक उसके पास बाकी है, कम-से-कम तब तक तो सुन्दरी का हाथ उसके हाथ में रहेगा। साध्वी ने मनिहार का अभिप्राय भाँप लिया। चूड़ी चटकने पर, हाथ पर किसी खरोंच के लगने पर वह शायद 'सी' करे, पर ऐसा नहीं होगा, वह कहती है—

म्हारी चूरी फोर दे रे मनिहार गँवार।
सी तो पी की सेज पर निकस गयी इक बार।।

डाक्टर, वैद्य, हकीम शरीर के धरातल पर मात्र कुछ संवेगों को ही प्रेम का भ्रम कहते हैं। दार्शनिक देह को मात्र रक्त, मज्जा, मवाद, पीव, कफ, पित्त, मल-मूत्र ही मानता है। मनोचिकित्सक उसे केवल कुछ विकार मानता है। वैरागी नारी को नरक की खान कहता है। कुत्ते की दीठि चिथड़े पर। वह, जो काम, रति, क्यूपिड, साइको-वीनस, अफ्रोदिते के माध्यम से गुजरता हुआ, उसका अति-क्रमण कर प्राणों का अंतरंग सखा बन जाता है, वह जो आत्मा का नित्य केलि-सखा है, वहाँ तक पहुँचने की डाक्टर, वैद्य, हकीम, मनोचिकित्सक, दार्शनिक, वैरागी की भला क्या बिसात हो सकती है?

कागा सब तन खाइयो चुन-चुन खइयो मास।
दो नैना मत खाइयो पिया दरस की आस।।

के आग्रह को यदि ये नहीं समझ पाते तो इसमें इनका क्या दोष? यह तो इन बेचारों की सीमा है। यह हमारे आक्रोश के नहीं, दया और सहानुभूति के पात्र हैं।

जैसे नन्हा शिशु बरसाती पानी पर कागज की नाव विसर्जित कर देता है, वैसे ही लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, सोहनी-महीवाल, हीर-राँझा, रोमियो-जूलियट ने अपने प्रेमास्पद के लिए प्राणों का विसर्जन कर दिया। वैसे ही अपने प्रेमास्पद देश के लिए, स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि, जननी-जन्मभूमि के लिए भगतसिंह

जैसे लोग प्राणों की बलि चढ़ा देते हैं, फाँसी का झूला झूलते हैं, गोली खाते हैं, लाठियाँ झेलते हैं, कृष्ण-मन्दिर जेल की यात्रा करते हैं।

प्रेम निजता, वैयक्तिकता का अतिक्रमण करता हुआ जब निर्वैयक्तिक होता है तो मनुष्य स्वयं को एक अभय में स्थित पाता है। जिस हौसले से हम चाय का प्याला उठाते हैं, उसी हौसले से उतनी ही सहजता से, गिरिधर के प्रेम में माती मीराँ विष का प्याला उठा लेती है। मीराँ, जिस 'पिया की सेज' सूली पर होने का संकेत देती है, उसे मंसूर और ईसा सूली पर प्राप्त करते हैं। हव्वा खातून चिनार-वनों में अपने प्रिय की तलाश में अलख जगाती है। भटकती फिरती है कस्तूरी मृग-सी, यद्यपि उसका प्रिय बारम्बार बराबर टेरता है—'मोको कहाँ ढूँढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।' ऊर्ध्वबाहु संकीर्तनरत चैतन्य प्रेम-भाव में मूर्च्छित हो जाते हैं। कबीर असंग होकर 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' घोषित करते हुए सबकी खैर माँगते हैं। तुलसी अपने राम को सर्वत्र देखते हैं और उद्घोष करते हैं 'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी'। ज्ञानेश्वर भैंस की पीठ पर पड़ती डण्डे की मार को अपनी पीठ पर महसूस करते हैं। रामेश्वरा-भिषेक के लिए सुरक्षित गंगाजल संत एकनाथ प्यासे गधे को पिला देते हैं। नामदेव कुत्ते के पीछे घी चुपड़ी रोटी लिए दौड़ते हैं। मंसूर सूली पर भी अनलहक घोषित करते हैं। सरमद अपने वध के लिए नंगी तलवार लिए आते जल्लाद में भी अपने प्रिय का दर्शन करते हैं। ईसा सूली पर भी हत्यारों को क्षमा किये जाने की प्रार्थना करता है। युग को बुद्ध, वर्द्धमान और गांधी मिलते हैं। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे उदात्त भाव केवल अलंकरण नहीं, वरन् आचरण से समर्थित एक सहज मानसिक स्थिति होते हैं।

प्रेम की यह प्रशस्ति, यह स्तोत्र, यह स्तवन अथवा प्रार्थना मात्र इसलिए ताकि प्रेम के उदात्त स्वरूप का प्रसाद हममें उपलब्ध हो। प्रसाद ही क्या, हम प्रेम के प्रसाद-स्वरूप, सम्पन्न स्वरूप को प्राप्त हों।

●

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास : एक परम अस्वीकार

शिवपुराण उमा संहिता में एक प्रसंग है, द्वैपायन तपश्चर्यारत हैं। प्रसन्न होकर अकस्मात् देवाधिदेव भगवान् शंकर प्रकट हो जाते हैं और द्वैपायन से वर माँगने का आग्रह करते हैं। महर्षि द्वैपायन, भूतभावन महादेव को अपनी विनम्र प्रणति देते हैं और सविनय दृढ़ता से कहते हैं, 'भगवान् आप सर्वान्तरात्मा हैं, आपके लिए कुछ भी अदेय नहीं, तथापि मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आप मुझे दैन्य भावनाजन्य याचना के लिए क्यों प्रेरित कर रहे हैं?' और इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वैपायन ने वर माँगने से इन्कार कर दिया। भगवान् शंकर के सामने इस प्रकार अस्वीकार करने के लिए एक सिरफिरा पागलपन अथवा एक अप्रतिम स्वाभिमान होना चाहिए :

सर्वान्तरात्मा भगवान
शर्वः सर्वप्रदो भवान।
याञ्चां प्रतिनियुक्तियां
किमिशो दैन्य कारिणीं॥

यह परम अस्वीकार किसी रुग्ण निषेध अथवा वर्जना से प्रेरित नहीं था, यह रचनाकार की रचनाधर्मिता में विरमित विधाता का आत्मविश्वास स्वाभिमान-गर्भित विधायक अस्वीकार था। सार्वजनिक मंचों पर आज का तथाकथित विद्रोही रचनाकार चेहरे पर स्वाभिमान और बगावत का फेस पाउडर मले हुए जाने कैसी-कैसी क्रांतिकारी मुद्राएँ देता है, परन्तु कमरों में बन्द दरवाजों और दीवारों की ओट देकर चाटुकार दीन-दयनीय मुद्राओं द्वारा सत्ता, व्यवस्था और प्रतिष्ठानों से कृपा, अनुग्रह, अनुकम्पा एवं सुविधाएँ वसूल रहा है। आज के इस विपर्यय के संदर्भ में द्वैपायन का यह परम अस्वीकार कितना प्रासंगिक और जीवन्त है! सत्ता, व्यवस्था, प्रतिष्ठान और समाज से कृपा-अनुग्रह, अनु-कम्पा, सुविधाओं का यह चरम एवं परम अस्वीकार जो स्वीकारेगा, वही काल का अतिक्रमण करती, कालजयी रचना दे सकेगा, वही अपने प्राणों का पीयूष अपनी रचना में ढाल सकेगा और महाविनाश की उद्धत चुनौती के सामने सर्जन की विनम्र-दृढ़ अपराजेय जिजीविषा लेकर खड़ा हो सकेगा :

देव ! मुझे याचक मत समझो
मैं ऐसे वरदान न लूँगा ।
हाथों में लेकर विष प्याला
पीकर संघर्षों की ज्वाला ।
सम्हलो, भाग्य विधाता सम्हलो ।
टकराता मानव मतवाला ।
सुख के मधु सपने मत देना
मैं ऐसे एहसान न लूँगा ।

कालिन्दी-तट पर महर्षि पराशर खड़े हैं, उन्हें उस पार जाना है। धीवर-कन्या मत्स्यगन्धा सत्यवती ने उन्हें नाव पर बिठा लिया। उसकी अनुपम रूप-राशि और उद्दाम यौवन से पराशर विचलित हो गये। यमुना के मध्य ही एक द्वीप पर पराशर ने अपने और सत्यवती के चारों ओर बादलों की अभेद्य दीवार रच ली। ग्रीक पुराण के अनुसार जूपिटर जब अपनी दबंग, झगड़ालू पत्नी जूनो से छिप कर परकीयाओं से मिलता है, तो क्यूपिड-सखा जेफायर इसी तरह उसके चारों ओर कुहरों की घनी-घनी अभेद्य दीवार खड़ी कर देता है। पराशर ने सत्यवती को पुत्र-जन्म के उपरान्त भी अक्षययौवन बनी रहने का वर दिया। सत्यवती ने पुत्र को जन्म दिया। यही पुत्र श्रीकृष्ण द्वैपायन के नाम से विश्व-विश्रुत वेदव्यास हुए। द्वीप पर जन्म होने के कारण वे द्वैपायन कहलाये। वृद्ध नाती-पोतों-प्रपौत्रों आदि के समक्ष सत्यवती का अखण्ड यौवन, गदराया हुआ सौन्दर्य कैसा लगता रहा होगा ?

हिन्दू पुराण के गणनानुसार अब तक सत्ताईस मन्वन्तर बीत चुके हैं, अर्थात् सत्ताईस द्वापर बीत चुके हैं, प्रत्येक द्वापर का अपना अलग वेदव्यास होता है। अट्ठाईसवें द्वापर के वेदव्यास महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन हैं। उन्नीसवें मन्वन्तर का वेदव्यास अश्वत्थामा होगा।

कालान्तर में महाराज शान्तनु सत्यवती पर मुग्ध हुए। उन्होंने सत्यवती से विवाह करना चाहा। सत्यवती का पिता वेटी की देह का सब्जीवाले अथवा मछलीवाले की तरह बाकायदे मोल-भाव करता है। उसकी शर्त है, सत्यवती की सन्तान ही राज-सिंहासन की उत्तराधिकारिणी होगी। शान्तनु ने वचन दिया। धीवर को पराक्रमी देवव्रत के रहते शान्तनु के वचन पर भरोसा नहीं हुआ, फलतः आजन्म ब्रह्मचर्य-पालन का भीष्मव्रत, देवव्रत ने लिया और देवव्रत से भीष्म हो गये। पिता ययाति की वासना-वेदी पर कभी पुत्र पुरु ने अपने यौवन का बलिदान किया था, आज फिर वह इतिहास दोहराया गया। पिता की

वासना-वेदी पर गंगा-पुत्र भीष्म ने अपनी तरुणाई बलि कर दी। राम जाने द्वैपायन ने माता सत्यवती की यह खरीद-फरोख्त कैसे झेली होगी ?

सत्यवती-नन्दन विचित्रवीर्य सन्तान पैदा करने में अक्षम थे, वे निःसन्तान जाते रहे। उनके लिए भीष्म ने राजकुमारियों का अपहरण किया; द्वैपायन इस अन्याय के तटस्थ द्रष्टा बने रहे। माँ की आज्ञा से द्वैपायन ने अनुज-बधुओं तथा भ्रमवश एक दासी के साथ नियोग किया। त्रेता रामायण-काल में राम, बालि का वध करने में तर्क देते हैं—

अनुज-वधू भगिनी सुतनारी
सुन सठ कन्या ये सम चारी।
इन्हहिं कुदृष्टि विलोकइ जोई,
ताहि बधे कछु पाप न होई ॥

और द्वापर में द्वैपायन को जो करना पड़ा, वह क्या इसी श्रेणी में नहीं आता ? अनुज-वधुएँ भय से आँखें मूंद लेती हैं, पीली पड़ जाती हैं। परिणाम सहज ही था, जन्मान्ध धृतराष्ट्र, जन्मजात रुग्ण पाण्डु और दरिद्र विदुर। इस प्रकार के असहज सम्पर्क ने द्वैपायन को जन्मजात अन्धा ही नहीं, मतिअन्ध, रुग्ण और दरिद्र धीमानों की परम्परा के पूर्वपुरुष अथवा आदिपुरुष के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

अब द्वैपायन को स्वयं अपनी सन्तान-परम्परा चलाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। आखिर पितृऋण से उऋण जो होना था। उन्होंने परम नास्तिक महर्षि जाबालि से उनकी कन्या पिंगला अथवा वटिका का हाथ माँगा। गोलोक से जब राधा वृन्दावन आ गयीं, तो उनका प्रिय शुक भी वृन्दावन की ओर चल पड़ा। कैलाश पर भगवान् शंकर पार्वती को अन्यतम गुह्य ज्ञान बतला रहे थे, शुक लोभ-संवरण नहीं कर पाया और वहीं एक कोटर में छिप कर बैठ गया। सुनते-सुनते पार्वती को नींद आ गयी। हुँकारी थमने को थी, परन्तु पार्वती के स्वर में शुक हुँकारी भरने लगा। भोले बाबा तो अपनी मस्ती में बोले जा रहे थे। बात पूर्ण होने पर उन्होंने देखा पार्वती तो सो गयी, फिर यह हुँकारी कौन भर रहा था ? बाबा ने त्रिशूल लेकर शुक को दौड़ा लिया। स्नान के उपरान्त व्यास-प्रिया पिंगला केश सुखा रही थी, उन्होंने जम्हाई ली, शुक उनके मुँह के रास्ते उदर में उतर गया। भगवान् आशुतोष लौट आये।

शुक, शुकदेव के रूप में जन्मा और जनमते ही पिता की अवज्ञा कर तपस्या के लिए चला गया। दोनों ने शिव की आराधना की। दूसरा पुत्र कपिञ्जल हुआ, तथापि वंश-परम्परा आगे नहीं बढ़ पायी।

गणेश जी, महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन के आशुलिपिक बने। शर्त थी, वेदव्यास का इमला और गणेश जी की लेखनी एक क्षण को भी रुके नहीं। कैसी विलक्षण सामर्थ्य रही होगी ? पहले यह सब-कुछ कपोल-कल्पित लगता था, परन्तु अब यह बात समझ में आने लगी है। कहा जाता है कि बँगला के स्वनामधन्य कवि माइकेल मधुसूदन दत्त एक ही समय में अनेक आशुलिपिकों को कविता बोल-बोल कर लिखवाते थे। चारों वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों, उपपुराणों का संकलन, वर्गीकरण, सम्पादन और प्रणयन ! कैसी अद्भुत सामर्थ्य रही होगी ?

महर्षि व्यास ने महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में 'सिंहनाद' किया है, "अठारह पुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और छहों अंगों सहित चारों वेद एक ओर और यह अकेला ही महाभारत उन सबके बराबर है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है; जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।" अपने सर्जन के प्रति कैसा अपूर्व अप्रतिम आत्मविश्वास ! इस गर्वोक्ति को पढ़ते-पढ़ते उदयनाचार्य की उक्ति स्मृति में झिलमिला उठती है, "काव्य, तर्क अथवा दर्शन किसी भी क्षेत्र में जिस किसी भी मार्ग पर, वह पूर्वनिर्धारित अथवा विपरीत हो, हम चलते हैं, वही सही मार्ग है। जिस दिशा में सूर्य उदित होता है, वही पूर्व दिशा होती है, सूर्य दिशा के वशीभूत पराधीन होकर उदित नहीं होता।"

अपने वंशधरों का विनाश, यदुकुल का विनाश, यह विनाश-अभिलेख रचने के क्रम में रचनाकार द्वैपायन न केवल दुखा होगा, वरन् बारम्बार हताहत हुआ होगा। महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सैनिकों का वध हुआ था, प्रत्येक सैनिक के साथ स्वयं द्वैपायन मृत्यु को प्राप्त हुए होंगे। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वे त्रिकालदर्शी थे, उन्हें सब-कुछ पता था, इसलिए मोहाविष्ट होकर उनके दुखने की बात नहीं की जा सकती। आखिर जब शुकदेव जनमते ही तपस्या हेतु भागे थे, द्वैपायन स्वयं उनके पीछे बेटा-बेटा पुकारते हुए भागे थे। त्रिकालदर्शी के लिए भी ऐसा मोह सहज, मानवीय और ऋजु था। रचनाकार के लिए कचहरी के पेशकार की भाँति तटस्थ रहकर केवल दस्तावेज प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

जन्मान्ध धृतराष्ट्र के अनुकरण में पतिव्रता गान्धारी ने भी आँखों पर पट्टी चढ़ा ली। गान्धारी केवल पत्नी ही नहीं थी, वह सौ बेटों की माँ भी थी। क्या हुआ उस माँ का, जिसकी एक वत्सल दृष्टि के अभाव में सुयोधन दुर्योधन बन गया।

त्रेता में अवध का राज्य राम और भरत के चरणों के बीच, फुटबाल बन गया था और उसी राज्य के लिए द्वापर में भाई ने भाई का सिर उतार लिया और यहीं से शुरू होता है, बदबूदार 'किस्सा कुर्सी का'। एक-से-एक बढ़-चढ़ कर हिंस्र-क्रूर कर्म हुए और उनमें से बहुतों का औचित्य धर्म-संस्थापनार्थाय युग-युग में सम्भव हुआ। पूर्णावतार कृष्ण ने किया।

कुरुकुल की वधू को सरेआम निर्वसन करने की कुचेष्टा, धर्मराज का अर्द्ध-सत्य, द्रोण का वध, अभिमन्यु और कर्ण का वध, पाण्डवों के पाँचों बेटों का सोते समय सर उतार लिया जाना, भीम द्वारा दुःशासन का रक्तपान, और जाने क्या-क्या!

भले ही महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में द्वैपायन ने सिंहनाद करते हुए, महाभारत की अद्वितीयता का उद्‌घोष किया हो, परन्तु कालान्तर में उन्हें अपने उद्‌घोष में एक थोथा दर्प मिला होगा जिसके चलते द्वैपायन के भीतर रचना-कार की ईमानदारी अतृप्त रहने लगी, रचनाकार की कृतार्थता, कृतकृत्यता अथवा धन्यता का बोध उनमें नहीं उतरा, उनकी सर्जनधर्मिता प्यासी-की-प्यासी रह गयी। अधर्म, दुराचार, अनाचार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, युद्ध, हिंसा, छल, प्रपञ्च, राजनीति एवं कूटनीति से रसा-बसा ग्रन्थ उन्हें बेचैन छोड़ गया।

देवर्षि नारद ने उन्हें श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम के रूपायन की सलाह दी और श्रीमद्‌भागवत रचने के उपरान्त द्वैपायन ने रचनाधर्मिता के तोष का स्वाद चखा, उसकी सार्थकता का अनुभव किया।

अश्वत्थामा और सव्यसाचिन अर्जुन ने परस्पर ब्रह्मास्त्र छोड़ दिये थे। प्रति-हिंसा-प्रेरित अश्वत्थामा ने अशिव संकल्प से वह अस्त्र छोड़ा था, इस कारण वह उसे छोड़ना तो जानता था, वापस लेना नहीं। अर्जुन ने गुरु-पुत्र की कल्याण-कामना से शिव संकल्प-पूत ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे उसे वापस ले सकते थे। आग उगलते ब्रह्मास्त्रों के बीच, परम भागवत महावैष्णव द्वैपायन एक अदद तुलसीदल का प्रतिरोध लेकर खड़े हो गये। क्या युद्ध-सन्नद्ध कौरव-पाण्डवों के बीच वे इसी प्रकार खड़े नहीं हो सकते थे? कहीं, यदि यह सम्भव होता तो महा-भारत का रूप कदाचित् कुछ और होता…

इस त्रासदी के परिपार्श्व में यह स्वयं में कितना बड़ा व्यंग्य है कि द्वैपायन सप्त चिरंजीवी लोगों में परिगणित हुए। उनके पास एक चुका हुआ अतीत, एक अपाहिज वर्तमान और एक शून्य भविष्य है। एक जड़ अमरता, उनके जागरूक रचनाकार के लिए एक विराम हो गयी। वे एक सकर्मक कर्मठ क्षणभंगुरता के लिए तरस गये। केवल बना रहना, वस्तुतः जीना नहीं, यही उनकी नीयत और नियति हो गयी।

अंततः पराजित थके-हारे टूटे हुए श्रीकृष्ण द्वैपायन कहते हैं, "ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चित् शृणोतिमाम् ।" मैं भुजा उठा कर कहता हूँ, परन्तु मेरी तो कोई नहीं सुनता । याद करें हम सन् १९४७, जब पराजित बापू ने यही कहा था, अब तो मेरी कोई भी नहीं सुनता । मेरा सवा सौ साल जीने का हौसला पस्त हो गया है । अभी बात ताजी है । लोकनायक के साथ भी यही हुआ । (इस श्लोक को लोकनायक अक्सर गुनगुनाते थे, देखिये धर्मयुग, २८ अक्टूबर) ।

वह चाहे वाल्मीकि हों, चण्डीदास हों अथवा वाल्ट ह्विटमैन हों, सभी ने एक स्वर से वेदव्यास महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन की भाँति मनुष्य को सर्वोपरि सत्य कहा है । जब तक मनुष्य सर्वोपरि सत्य है, सोचता हूँ क्या महर्षि द्वैपायन, वाल्मीकि, चण्डीदास, वाल्ट ह्विटमैन, गांधी और जयप्रकाश सचमुच थक गये ? टूट गये ?? हार गये ??? यदि हाँ, तो हमारा क्या होगा ?

●

रूमान : मेरे निकट एक मूल्य है

याद आती है वह एक गोष्ठी, मेरे एक नौजवान मित्र ने चन्द्रमा को आधार बनाकर एक बहुत प्यारा सुन्दर निर्दोष गीत सुनाया है। अतिरिक्त आधुनिकता से पीड़ित मेरे मित्र नाक-भौं सिकोड़ते रहे। विचार-विमर्श के दौरान लोगों ने उसे एक निम्न-कोटि की प्रतिगामी रचना घोषित किया, कुछ मित्रों ने उसे रचना मानने से ही इन्कार कर दिया। उनकी घोषणा का आधार था कि आज जब विज्ञान ने चन्द्रमा की सारी हकीकतें अयाँ कर दी हैं, तो इस गीत की कोई प्रासंगिकता नहीं रह जाती, अब चन्द्रमा पिछड़ी हुई मानसिकता के लोगों के लिए ही प्रेरणा दे सकता है, आदि, आदि। मेरा नौजवान निरीह मित्र मुँह ताकता रहा, उसकी मुद्रा से लग रहा था, जैसे चन्द्रमा को आधार बनाकर गीत रचना कोई बहुत बड़ा अपराध है जो उससे हो गया है।

अपने नौजवान मित्र के प्रति दया एवं करुणा—सहानुभूति से प्रेरित होकर नहीं, वरन् जो उसका सहज प्राप्तव्य है, उसके प्रति पूरा आदर रखते हुए मैंने अपने उद्भट विद्वान् मित्रों से सविनय पूछा कि आदमी की देह के बारे में सारी वास्तविकता में, हमारे देश के दार्शनिकों ने बहुत पहले और अब विज्ञान ने रेशा-रेशा उद्घाटित कर दी है, सारी राई-रत्ती ऑपरेशन टेबल पर उजागर कर रख दिया है, तथापि नारी-पुरुष का परस्पर आकर्षण क्या कुछ कम हुआ है? रामायणकार वाल्मीकि हों या महाभारतकार महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास हों, चण्डीदास हों या वाल्ट ह्विटमैन, सबने प्रकारान्तर से मनुष्य को सर्वोपरि सत्य कहा है। क्या मनुष्य की उपेक्षा कर मनुष्यता की बात की जा सकती है?

सन्त ऑगस्टस रेनायर कहते हैं 'Never trust a man who does not get excited at the sight of pretty breasts.' उनका कहना है कि जो निश्छल, निष्कपट व्यक्ति है, वह उसे सराहे बिना नहीं रह सकता। यदि वह नहीं सराहता तो उसके मन में कहीं खोट है या वह मनसा रुग्ण है। शीर्षस्थ उर्दू के शायर श्री रघुपतिसहाय फिराक कहते हैं, 'मेरे नजदीक वह बुरा आदमी नहीं है जो जुआ खेलता है, चोरी करता है, शराब पीता है, वेश्या-गमन करता है, औरों के साथ सोता है, डाका डालता है, हत्या करता है, अप्राकृतिक

मैथुन करता है, विश्वासघात करता है, हाँ, जो इस विराट् आकाश को देखकर, गंगा की मौजों को देखकर, हिमालय की ऊँचाई, सागर की गहराई की कल्पना मात्र से मुग्ध होकर असाधारण रूप से प्रफुल्लित नहीं होता, वह बुरा आदमी है क्योंकि उसके मन में कहीं खोट है।"

आज हमारे अत्यधिक अतिरिक्त आधुनिक मित्र 'गिलास में लिंग-रस निचोड़ कर पी जाना चाहते हैं', 'मरी हुई औरत के साथ सम्भोग करना चाहते हैं', 'शुभा की एयर-कण्डीशन योनि में बैठकर संसार देखना चाहते हैं' अपने को 'एण्टी-रूमान घोषित करते हैं। उन्हें रूमान से परहेज है। विवेकसम्मत ग्राह्य-अग्राह्य तो समझ में आता है, परन्तु यह परहेज समझ में नहीं आता क्योंकि परहेज तो रुग्ण मनःस्थिति का परिचायक है।

उनके निकट औरत केवल भोग्या है। दुःशासन ने तो केवल एक बार कौरव-सभा में औरत को नंगी किया था, परन्तु ये हैं कि रोज-रोज चौराहे-चौराहे कौरव-सभा का आयोजन कर औरत को नंगी करते हैं। इनके लिए औरत केवल भोग्या है और कुछ नहीं और उसके भोगने की प्रक्रिया नितान्त दैहिक, उबाऊ, यान्त्रिक है, वह केवल बासी भात है। हमारे देश का पुरातनपंथी प्यूरिटन भी नारी को नरक का द्वार मानता और कहता है, वह उसमें रमने के बजाय उससे भागने की बात करता है। इस धरातल पर यह दोनों वर्ग के लोग एक बिन्दु पर आ खड़े होते हैं। एक नपुंसक व्यक्ति के लिए सुन्दर औरत और उसके मांसल भरपूर यौवन से बड़ी कोई अश्लीलता नहीं है। दुखती हुई आँखों को रोशनी नहीं सुहाती।

सम्भोग को नितान्त यान्त्रिक मानने वालों से पूछना चाहूँगा कि अस्मत-फरोश औरत, स्वकीया अथवा परकीया प्रेयसी के साथ हम-बिस्तर होने की क्या एक ही अनुभूति, एक ही राग-ऊष्मा होती है? यदि हाँ, तो कहना चाहूँगा कि उनका संवेदन कुन्द हो गया है, उनका एहसास गोठिल होकर मर चुका है और यदि नहीं तो निश्चय ही राग-तत्त्व की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति के कारण उनमें यह भेद होगा।

एक समय था जब हमने अंग्रेजी के शब्द 'कैरेक्टर' के प्रति बड़ा अन्याय किया था। 'कैरेक्टर' व्यापक सन्दर्भ और अर्थबोधी शब्द है जबकि हमने उसे केवल यौन-नैतिकता की परिधि में घोंट दिया। इसी तरह जीवन के समस्त उदात्त सन्दर्भों को अपनी व्यापक अर्थ-परिधि में समेट लेने वाले शब्द प्रगतिशीलता को हमने केवल हँसिया-हथौड़ा, लाल-सलाम, किसान-मजदूर-सर्वहारा के तंग दायरे में रूढ़ कर दिया। एक गतिमान, गतिशील अर्थ वाले शब्द को इस तरह

संकीर्णता की वेदी पर बलि कर दिया। ठीक इसी तरह रूमान वस्तुतः एक व्यापक अर्थबोध का शब्द है जो अपने अर्थ-परिवेश में हमारी समस्त रागात्मकता को समेट लेता है, लेकिन हमने उसे केवल स्थूल प्रणय-निवेदन के संकीर्ण क्षेत्र में सीमित कर दिया। शब्दों के अर्थ को बोध और अपील के धरातल पर यदि नया विस्तार, नयी प्राण-प्रतिष्ठा के संस्कार हम नहीं दे पाये तो कल भले ही हमें शब्द-शिल्पी कहा जाता रहा हो, परन्तु आज हमें शब्द-हन्ता ही कहा जायेगा। रूमान राग का वह तत्त्व है जो हमें अपने परिवेश से और सघनतर एवं गहनतर विन्दु पर जोड़ता है, हमारा तादात्म्य स्थापित कराता है। इसके अभाव में किसी प्रकार का सर्जन सम्भव नहीं है।

नित्य-प्रति निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में पति-पत्नी में टिन्न-फुन्न होती रहती है, परन्तु पत्नी की एक फटकार पर कोई तुलसी नहीं हो जाता, इसलिए क्योंकि उसने पत्नी को उतनी सिद्दत से प्यार ही नहीं किया तो वह उसकी फटकार को क्या महसूस करेगा। सैलाब की मारी नदी की उफनती लहरों को चीरता हुआ वह प्रिया के पास जा पहुँचा। लोग तो रस्सी को साँप बना लेते हैं और वह है कि साँप को रस्सी बना लेता है। जहाँ तादात्म्य इतने गहन स्तर पर होगा, वहीं तो आदमी का एहसास इतना जाग्रत होगा।

रोज ही तो हम किसी वृद्ध, रुग्ण एवं शव को देखते हैं। कितने हैं जो बुद्ध हो जाते हैं? क्या सिद्धार्थ जन-जन से गहन मन-प्राण के धरातल पर जुड़ा नहीं था? अगर नहीं, तो यह प्रतिक्रिया कैसे और कहाँ से होती? केवल पत्नी को सम्बोधित कविताएँ रचने वाला कार्ल मार्क्स, बीस प्रेम-कविताओं का प्रथम कविता-संग्रह प्रकाशित करने वाला पाब्लो नेरूदा, प्रकृति और प्रेम की अनेक रससिद्ध रचनाएँ देने वाले माओत्से तुंग, होची मिन्ह और लुमुम्बा व्यापक जन-संघर्ष में क्या किसी से पीछे थे? यह इनसे तभी सम्भव हुआ जबकि इनकी जड़ें कहीं अत्यन्त गहन एवं व्यापक सघन रागात्मक जमीन में थीं।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति, रूस की बोलशेविक क्रान्ति, चीन की क्रान्ति, क्यूबाई क्रान्ति, भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन से लेकर लोकनायक जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रान्ति आखिर लक्ष्यच्युत क्यों और कैसे हुई? इनके अमलबरदारों के अपने महानतम उद्देश्य के प्रति लोकधर्मा संसक्ति के अभाव में यह सारी की सारी क्रान्तियाँ पथभ्रष्ट हुईं और बर्बरता, उच्छृङ्खलता का पर्याय बन गयीं।

जुलेबर्न का उपन्यास 'फाइव वीक्स इन वेलून्स' को प्रकाशकों ने गपोड़ी की सनक कहकर तिरस्कृत किया था। वह चौदह-पन्द्रह प्रकाशकों द्वारा वापस लौटाया गया। उसने उसे भट्ठी में झोंक दिया था, लेकिन उसकी पत्नी ने स्वयं जलने

का जोखिम उठाकर पाण्डुलिपि को बचाया। अपना सर्वस्व बेचकर उसे प्रकाशित कराया और आज वह संसार की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों में एक है और रूस, अमेरिका ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है क्योंकि उनकी अन्तरिक्ष-खोज की शुरुआत करने में प्रेरक शक्ति यही तथाकथित गपोड़ी उपन्यास ही था। जुलेबर्न की पत्नी की अपने पति के प्रति सघनतम रागात्मक संसक्ति की यह परिणति क्या रूमान से परहेज है?

किसी स्थिति-विशेष से प्रेरित होकर हर व्यक्ति तो कविता अथवा चित्र या मूर्ति आदि तो रचने नहीं लगता। कहीं कुछ है जो आपको कहीं गहरे पकड़ता है, आपके भीतर से तादात्म्य स्थापित करता है, आपके भीतर प्रच्छन्न ऊर्जा-प्रतिभा को गति देता है और आप रचनाधर्म में रत होते हैं। रचने की यह विवशता आपकी अत्यन्त प्रिय वरेण्य विवशता होती है। यह सारा-का-सारा सन्दर्भ क्या रूमान अथवा राग-सन्दर्भ से इतर कुछ है?

वस्तुतः गड़बड़ी कहाँ है? जब हम छिछले-ओछे धरातल पर होते हैं और रचने का भ्रम पालते हैं, वह रचना होती ही नहीं है, वह केवल रचनाभास होती है। हमने देखा कि प्यार के गीत सराहे जाते हैं, हमें क्रैफ्ट पर महारत हासिल है, चट से गाँठ जोड़कर एक प्रेमगीत तैयार। भले ही हमारे भीतर प्यार की कोई हरारत हो न हो, लेकिन हमारा प्यार का रूमानी गीत तैयार। ऐसे लोग राग और रूमान को बदनाम करते हैं। रूमान छिछोरापन नहीं है। वह सबके बस की बात भी नहीं है। 'शीश उतारै भुइँ धरै तब आवै यहि द्वार।'

संस्कृत की एक कवयित्री विकटनितम्बा अथवा विण्डीका हुई है जिसने ऊर्णनाभ (मकड़े) के सम्भोग का वर्णन किया है। मकड़ी सम्भोग में जब चरम आनन्द की स्थिति में पहुँचती है तो वह पलट कर मकड़े का सर काट कर खा जाती है। इस प्रकार वस्तुतः ऊर्णनाभ ही सम्भोग का मूल्य देता है। राह चलती लड़की पर फबती कस देना रूमान नहीं है। जो इस धरातल पर जीते और रचना करते हैं, वे वस्तुतः रूमान को बदनाम करते हैं। ऐसे लोग जो वाजिब अथवा जेनुइन नहीं हैं, वे ही रूमान पर कीचड़ उछालते हैं। वे न तो राग अथवा रूमान के सन्दर्भ में, और न ही अपने बहुप्रचारित एण्टी-रूमान के सन्दर्भ में वाजिब होते हैं।

अल्ट्रा-मॉडर्न लोगों को मैंने कॉफी-हाउस की मेज पर नितान्त आधुनिक बहसों में मुब्तला पाया है और उन्हीं लोगों को घर पर साढ़ू के बेटे के दहेज के लिए भाव-ताव करते देखा है। यही नहीं, कमीज की कालर के नीचे छिपाकर गण्डे-तावीजों से लैस होते भी देखा है। आधुनिकता गुलाब की कलम की तरह

आरोपित नहीं की जाती। वह भीतर से उगती है। मेरे नजदीक प्रस्तुत क्षण की अपेक्षाओं के प्रति सतत जागरूकता ही आधुनिकता है। वे जो कहीं बहुत गहरे से भीतर से जुड़े होते हैं, वे ही संघर्ष में जूझ पाते हैं। वे जो तथाकथित एण्टी-रूमान और तथाकथित आधुनिकतावादी रचनाकार होते हैं, वे न तो रचना के स्तर पर और न ही व्यावहारिक धरातल पर संघर्ष कर पाते हैं, वे केवल फतवे देते हैं, तकरीर करते हैं। मेरे निकट रूमान एक मूल्यवान् मूल्य है, जिसके लिए कोई भी मूल्य देने को मैं बराबर प्रस्तुत रहा हूँ। रूमान के अभाव में मेरे लिए रचना तो क्या जीना भी सम्भव नहीं है।

आज हमारे बीच दुराग्रह के दो छोर हैं। एक यथार्थ के नाम पर मूल के पङ्क को कमल की पंखुड़ियों पर पोत कर उसे ही सर्वस्व एवं ग्राह्य घोषित कर रहा है, उसके लिए कमल का रूप, रस, गन्ध, पराग सब-कुछ बेमानी है। दूसरा, कमल के रूप, रस, गन्ध, पराग को ही सब-कुछ मानकर सौन्दर्य के नाम पर उसके मूल के पङ्क को ही नकार रहा है। इनमें एक यथार्थवादी होकर भी यथार्थ से परे है और दूसरा सौन्दर्यवादी होकर भी सौन्दर्य से परे है।

आज के तथाकथित आधुनिकतावादियों, यथार्थवादियों और प्रगतिशीलों ने रूमान को अन्त्यज बनाकर उसे छोड़ देने की साजिश की है। वह जो सचमुच गीतकार है, वह, जिसके लिए रूमान एक मूल्य है, उसे इस चुनौती को पूरी सद्भावना से स्वीकार करना होगा। यूँ आन्दोलन के अन्तर्गत नवगीत की अभिव्यक्तियाँ, उसकी मुद्रा, भङ्गिमा, उसके तेवर रूढ़ होने लगे हैं। एक निश्चित मुहावरेदानी का प्रचलन हो चला है। इस खतरे से सावधान होने की आवश्यकता है। हालाँकि इससे पैनिकी होने की कतई कोई आवश्यकता नहीं है। आन्दोलन किसी धारा-विशेष को त्वरा तो देते हैं, लेकिन साथ ही, उसकी आयु-सीमा भी निर्धारित कर देते हैं। आयु-सीमा तो हर किसी की होती है। वे उसकी आयु-सीमा को अत्यन्त संकुचित एवं संकीर्ण बना देते हैं। इस दौर में मौलिकता मारी जाती है और जैसा कि मैंने पहले कहा है, उनकी रूढ़ियाँ बनने लगती हैं। आवश्यकता है विवेकसम्मत स्वस्थ धरातल पर रूमान को सहेजने की, उसकी प्राणशक्ति के समुचित सर्जनात्मक उपयोग की। सम्प्रति केवल इतना ही...... ।

बलि : एक अकृतार्थ बाबा भारती

कथाकार सुदर्शन की कथा 'हार की जीत' के बाबा भारती को दस्यु खड्गसिंह के पश्चात्ताप के आँसू मिले। उनका आग्रह था, यह घटना किसी को मत बतलाना, अन्यथा जरूरतमन्द याचक की याचना पर से लोगों का भरोसा उठ जायेगा और वह बेचारा मारा जायेगा। खड्गसिंह लौटा, दस्यु के अन्तर में एक संवेदनप्रवण आदमी ने करवट ली, बाबा भारती के आग्रह को उसने प्रायश्चित के गंगाजली आँसू दिये। परन्तु दानवेन्द्र राजा बलि या पद्मपुराण की जबान में कहूँ, तो बाष्कलि दैत्य को छला तो गया, तथापि छलिया के पश्चात्ताप से वह कृतार्थ नहीं हुआ।

येन बद्धा बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबंधनामि रक्षो मा चल मा चल ॥

रक्षाबन्धन के दिन यजमानों की कलाइयों पर जब रक्षासूत्र बाँधते हुए पुरोहितों को शुकवत् यह पाठ करते देखता हूँ, तो बन्धनों में आबद्ध छला गया निश्छल दानव महादानी बलि अपने पीड़ा के पूरे अर्थबोध एवं संवेदनाबोध के साथ मेरी चेतना की शिरा-शिरा में पिरा उठता है।

लगता है, भगवान् से छला जाना महादानी कर्ण और महादानी बलि दोनों की नियति थी।

दान, दाता के अहं का विषैला विस्फोट,
कर्ण बलि के अह ने ली सदा इसकी ओट।

बलि, सन्त-दानव विरोचन का पुत्र। बलि, दानव-सन्त भक्तप्रवर प्रह्लाद का पौत्र। बलि, दानवाधिपति हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष का प्रपौत्र। बलि, स्वयं में सन्त-साधु और भक्त, उसके मन में बराबर एक सवाल ने गुहार लगायी होगी और अनुत्तर की चट्टान से टकरा कर सिर फोड़ लिया होगा।

हिरण्यकशिपु हो अथवा हिरण्याक्ष, उनके वध के लिए परमात्मा को वाराह एवं सिंह बनना पड़ा। क्या आसुरी पराभव अथवा आसुरी पराजय के लिए मनुष्यता पर्याप्त नहीं थी? क्या देवत्व यथेष्ट नहीं था? जो परमात्मा को पशु

बनना पड़ा, निदान, नाखून-दशन जीते, पाशविकता की जय हुई, उदात्त मानवीय मूल्य की नहीं।

देवताओं का अधिपति इन्द्र तो सर्वदा अपने अनुचर देवताओं की ही भाँति ओछा और क्षुद्र रहा, वह चाहे सगर के अश्वमेध यज्ञ का अश्व चुराना हो, अहल्या का शील चोरों की तरह हरण करना हो अथवा मेनका को भिजवा कर नर-नारायण या विश्वामित्र की तपस्या भंग करनी हो। देवताओं के ओछे मान का मर्दक अदिति के गर्भ में पल रहा था। अवसर पाकर इन्द्र अदिति के गर्भ में प्रवेश कर गया और अपने वज्र से उसके उनचास टुकड़े कर दिये। रोते हुए भ्रूण को वह बराबर 'मा रुत' 'मा रुत' कहकर रुदन से मना करता रहा। इस कारण उसका नाम मरुत पड़ा। इन्हीं उनचास मरुतों अर्थात् पवन ने लंका-दहन के अवसर पर अपने पुत्र मारुति अर्थात् अञ्जनीनन्दन हनुमान् से सहयोग किया था।

अपने सम्भावित प्रतिस्पर्द्धियों को समाप्त करने के लिए इन्द्र किसी भी सीमा तक नीचे उतर सकता था। भगवान् वाराह द्वारा हिरण्याक्ष के वध के उपरान्त हिरण्यकशिपु तपस्या हेतु पर्वत पर चला जाता है। नेतृत्वविहीन दैत्यों पर इन्द्र घेराबन्दी करके आक्रमण कर देता है। पराजित दैत्यों के बाल-बच्चों तक को बख्शा नहीं जाता। हिरण्यकशिपु की पत्नी दैत्येश्वरी कयाधू के तीन बच्चों, यथा ह्लाद, अनुह्लाद और संह्लाद की नृशंस हत्या कर दी गयी और हत्यारा स्वयं इन्द्र था। कयाधू गर्भवती है। गर्भस्थ शिशु की हत्या कर देने के लिए, वह गर्भिणी कयाधू का अपहरण कर अमरावती की ओर रवाना होता है। संयोग से देवर्षि नारद उधर आ निकलते हैं और कयाधू को देवराज की गिरफ्त से मुक्त करते हैं। नारद द्वारा बचाया गया यही गर्भस्थ बालक प्रह्लाद के नाम से जाना और पहचाना गया। देवर्षि नारद ने इस प्रकार संसार के प्रथम एवं महानतम सत्याग्रही को बचा लिया।

हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त संसार का प्रथम एवं महानतम सत्याग्रही प्रह्लाद अपने शील के बल पर त्रिलोक पर शासन करने लगा। श्रीहीन इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण कर प्रह्लाद की शरण ली और उसे अपनी सेवा द्वारा प्रसन्न कर लिया। तदनन्तर छल से उसने उनसे उनका शील दान के रूप में माँग लिया। फलतः शील, सत्य, धर्म, बल और राजलक्ष्मी सभी ने प्रह्लाद का साथ छोड़ दिया और प्रह्लाद देखते हैं कि श्रीहीन तेजहत दरिद्र ब्राह्मण उनके सामने श्रीमन्त वज्रपाणि इन्द्र के रूप में खड़ा है।

पिता-भक्तप्रवर प्रह्लाद इन्द्र द्वारा छला गया। इससे साधु दैत्य विरोचन ने कोई सबक नहीं लिया। वह भी कालान्तर में इन्द्र से ही छला जाता है।

पितामह प्रह्लाद छला गया, पिता विरोचन छला गया, तथापि बलि ने इससे भी कोई सबक नहीं लिया । वह स्वयं नारायण के छलिया रूप वामन द्वारा छला गया । पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस प्रकार छले जाने के बावजूद यह, दूध का जला, छाछ फूंक-फूंक पीनेवाले रुग्ण परहेजी प्रकृति का नहीं बन पाया और निर्दोष-निष्पाप बना रहा । क्या यह स्वयं में अद्भुत नहीं है ? कदाचित् वह छलने से छला जाना बेहतर मानता रहा होगा ।

रहिमन जाचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात ।
नारायण हू को भयो, बावन अंगुर गात ।।

याचक बनते ही जब स्वयं नारायण विष्णु का परम विराट् रूप 'बावन अंगुर गात' हो गया, उनका कद छोटा हो गया, तो उस इन्द्र की क्या बिसात है जो न पिद्दी है, न पिद्दी का शोरबा ! ओछा होना उसकी फितरत है । उसके लिए उसे कभी खेद भी हुआ होगा, वह कभी लज्जित भी हुआ होगा, यह भी सन्दिग्ध है ।

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ।।

राजा बलि को इस स्तर का दानी नहीं होना चाहिए था । अपने दानी होने के चलते उसे बँधना पड़ा । बलि के चरित्र की व्याख्या का एक रूप यह भी है—

अतिरूपेण वै सीता, अतिगर्वेण रावणः ।
अतिदानी बलिर्बद्धो, अति सर्वत्र वर्जयेत् ।।

हर प्रकार की अति वर्जनीय है । 'ना अति बरखा, ना अति धूप, ना अति चंचल, ना अति चूप' । इस प्रकार के सामान्य समीकरणों के आधार पर अत्यन्त साधारणीकरण के धरातल पर बलि के महान् प्रकरण को उतार लिया गया । दान के मूल में निहित दाता का अहंकार ही लगता है, सारी अवांछनीयता का कारण है ।

वामन के हाथों पराभव के उपरान्त, राजा बलि गर्दभ-योनि में काल-यापन कर रहा था । इन्द्र ने अपने टुच्चेपन के अनुसार उसकी खिल्ली उड़ाते हुए पूछा, "महात्मन् ! यहाँ इस हालत में आप......?" "समय बड़ा होता है देवराज ! एक युग वह था जब, मैं जिस दिशा में निवास करता था, उस दिशा को सुर-नर-मुनि-गंधर्व प्रणाम करते थे ।"—**नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु**
यस्यां वैरोचनिर्बलिः ।

मनुज बली नहिं होत है, समय होत बलवान ।
भिल्लन छीनी गोपिका, वहि अर्जुन वहि बान ।।

शील, सत्य, धर्म एवं दान जैसे महानतम उदात्त मानवीय मूल्यों का जय-केतन किसी दैत्य के हाथ में हो और वह जययात्रा अनवरत गतिमान रहे, ओ मेरे प्रभु ! यह तुम्हें क्यों नहीं रुचा ? यह जातिगत भेद-दृष्टि, ईर्ष्या-द्वेष भाव देवताओं में हो तो हो, परन्तु तुमसे यह कैसे सम्भव हुआ ? साधु-सन्त भक्त दैत्य प्रह्लाद, विरोचन और बलि के सामने असाधु-असन्त ईर्ष्यालु देवताओं अथवा इन्द्र का पक्ष तुम्हें क्यों भला लगा ? माना, तुम उत्तरदायी नहीं हो, क्योंकि तुम तो पकड़ में नहीं आ सकते । हम जो तुम्हारे हैं, हमसे लोग-बाग पूछते हैं, हमसे हमारा मन पूछता है, उन्हें क्या जवाब दें ? कोई ऐसा जवाब नहीं बन पड़ता, उसके औचित्य का समर्थन भीतर से नहीं उगता । दैत्य और आदित्य तो विमातृज थे, विमातृजों के विवाद में असाधुओं के प्रति यह तुम्हारा पक्षपात कैसा ? मेरे अन्तर्यामी ! तुममें यह भेद-दृष्टि क्यों और कैसे हुई ? नारायण ! भगवान् वामन ! तुम बलि को छलने, उसे बाँधने गये थे न, पर यह क्या हुआ ? स्वयं बँध गये ? आखिर यह कैसे और क्यों सम्भव हुआ ? बलि की भक्ति के रेशमी सूत्र में स्वयं बँध गये ? यह भाव-प्रवणता, यह करुणा-संकुलता, यह भक्त-वत्सलता, बलि को छलते समय कहाँ खो गयी ?

प्रभु ! सिन्धुजावल्लभ, तुम्हारा क्या गया ? एक गलत लीक पड़ गयी । प्रत्येक अभियान, अनुष्ठान, आन्दोलन, संघर्ष में दान के सन्दर्भ में बलि छला जाता है । केवल बलि और दान छला जाता है, केवल बलिदान छला जाता है । बलिदान, शील, सत्य, धर्म सब-कुछ इतिहास के धुँधलके में गुमनामी में बिला जाता है । चालाक, मक्कार अवसरवादियों का बाजार गरम होता है, उनकी ही चाँदी होती है ।

बलि की बेटी रत्नमाला, वामन के रूप को देखकर, उनके बाल-स्वरूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयी थी । उन्हें देखकर उसके भीतर एक माँ ने करवट ली । एक ममता, एक वात्सल्य की लौ झिलमिलाने लगी । उसका मन हुआ कि ऐसा बालक स्तनपान करे, तो मातृत्व कृतार्थ होता है । कहा जाता है--प्राणी की प्रत्येक कामना, उसकी प्रत्येक वासना को महामाया नोट करती है और जन्म-जन्मान्तरों में वह पूर्ण होती है । खलील जिब्रान जैसे चिन्तक-विचारक-रचना-कार ने भी प्रकारान्तर से इस कथन का प्रतिपादन किया है । रत्नमाला अगले जन्म में पूतना हुई, स्तन में विषलेपन कर, कृष्ण को स्तनपान कराती हुई वह मृत्यु को प्राप्त होती है । उफ, कैसी पूर्ति हुई उस कामना की । इतनी निर्दोष-निष्पाप कामना की ऐसी निर्मम क्रूर पूर्ति ? मेरे भगवान्, यह कैसी व्यवस्था ? यह कैसा विधान है ?

देवगुरु बृहस्पति अपनी गर्भिणी भावज ऋषि उतथ्य की पत्नी ममता पर आसक्त हो गये। वर्जनाओं और निषेधों, अनुनय-विनय, विनती-चिरौरी का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने भावज पर बलात्कार किया। बलात्कार में बाधा देने के अपराध में गर्भस्थ शिशु को दीर्घतमिस्रा में पड़े रहने का शाप मिला। वह बालक ऋषि दीर्घतमा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके आचरण से कुपित, उसकी पत्नी प्रद्वेषी के आदेश से उसके ही बेटों ने उसे जीते-जी हाथ-पाँव बाँध कर गंगा में प्रवाहित कर दिया। गंगास्नान करते राजा बलि ने उसे बचाया और सादर अपने घर ले आया। बलि ने ऋषि दीर्घतमा से प्रार्थना की कि आप मेरी रानी सुदेष्णा के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करें बूढ़े खूसट ऋषि को देखकर सुदेष्णा में एक विकर्षण, एक वितृष्णा बदबू देने लगी। उसने पहले तो अपनी दासी को भेज दिया। दासी से दीर्घतमा ने कक्षीवान आदि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये। अन्ततः बलि ने सुदेष्णा को विवश किया और दीर्घतमा ने सुदेष्णा से अंग, वंग, कलिंग, पौण्ड्र एवं सुह्य नामक पाँच पुत्र पैदा किये। इन पाँच पुत्रों ने अलग-अलग पाँच देश बसाये बलि के चरित्र का यह पक्ष मेरी समझ में नहीं आया। स्वक्षेत्र में पराये व्यक्ति द्वारा बीजारोपण, वह दीर्घतमा हो या और कोई, यह बलि की गैरत उसके पौरुष ने क्यों और कैसे गवारा किया ? सुदेष्णा हो अथवा वह दासी, उसे उसकी सहमति के बिना, उसकी इच्छा के विपरीत दीर्घतमा के समक्ष कैसे और क्यों परोस दिया गया ?

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टकम्।
जीवेद्वर्षसहस्राग्रमपमृत्यु विवर्जितः॥

इतनी सामर्थ्य, इतनी क्षमता, यह सब-कुछ होते हुए भी बलि पर एक जड़ अमरता थोप दी गयी। वह किसी एक ऐसे सक्रिय कर्मठ क्षण के लिए तरसने लगा जो मिले तो सही, भले ही वह क्षणभंगुर हो। बलि, मूल से उच्छिन्न शाखा पल्लवती, कदाचित् पुष्पिता फलवती अमरबेल का कल्पना-कुसुम नभ-गंगा में तैरती एक कागजी नाव बनकर रह गया। अमरता के वरदान से नहीं, वरन् अभिशाप से दुखते चिरंजीव बलि, तुम यदि कहीं होगे, तो सुन रहे होगे, नारायण की अदालत में, जनता-जनार्दन के न्यायालय में मैं तुम्हारी गुहार लगा रहा हूँ, तुम्हारी फरियाद कर रहा हूँ। हे प्रभु ! अपने भक्त को इस तरह एक असमर्थ तटस्थ प्रेक्षक बनाकर क्यों छोड़ दिया ? क्या रोजमर्रा के सुख-दुःख की जद्दोजहद का वह सक्रिय साझीदार नहीं हो सकता ? बलि, तुम कहोगे—कैसा है तू। जनाब फिराक गोरखपुरी के शब्दों में कहा जाये तो "**वह माँ है, या है रहमत का फरिश्ता, माँ ही मारे और माँ को**

ही पुकारे ?" नारायण ने ही छला, नारायण ने ही बाँधकर रसातल में डाल दिया और उसी से फरियाद ? तो तुम्हीं बतलाओ, आखिर फरियाद किससे की जाये ? छलिया तो यह भी कह सकता है, होम करते हाथ जला, रसातल अर्थात् अतलरस प्रदान कर दिया, फिर भी यह फरियाद, फिर भी यह शिकवा-शिकायत !

यह तथाकथित अमरता, यह कैसी अमरता है जिसका वर्तमान अपाहिज है, जिसका भविष्य अन्धा है। यह मृत्यु और जीवन के बीच झूलती अमरता, यह जीवन और मृत्यु, यह दोनों की निरर्थकता। यह आधी मृत्यु, यह आधा जीवन, यह कुछ भी नहीं, पर कुछ होने का भ्रम, यह मरीचिका ! यह छटपटाती पंगु चेतना, यह कोढ़ में खाज। क्या यही है अमरता ? क्या अमरता इन्हीं सबका पर्याय, समानार्थी अथवा नामराशि है ? यह अमरता जीवन का निषेध, जीवन की वर्जना, जीवन का अभाव, सक्रिय कर्मठ जागरूक चैतन्य उद्दाम जिजीविषा का उपहास। बलि, दान के सन्दर्भ में छला गया। आज बलिदान विष्णु के सामने, वैष्णव के सामने और जो कुछ शुभ है, शिव है, उन सबके सामने, एक शाश्वत अप्रतिहत प्रश्न के रूप में, एक उद्धत चुनौती के रूप में खड़ा है, इससे मुँह चुराकर कहाँ जाओगे ? इसके पूरे-पूरे सही-सही समुचित समीचीन उत्तर की तलाश करनी ही होगी, पलायन सम्भव नहीं है।

एक खुशबू की अगवानी

कलियों की बिन अनवास पंखुरियों पर अधर धरकर रमण करने का मधु-लोभी भ्रमर प्रमादवश शूल की नोक पर अधर धर बैठा। मधु तो नहीं ही मिलना था, नहीं मिला, चुभन किसी को क्षमा करना नहीं जानती, अलि का अधर लहूलुहान हो गया। गुंजार की ढेर घायल स्थगित हो गयी। उसे क्या पता था कि प्रकृति इस समय एक नैसर्गिक विरेचन से गुजर रही है। उसके भीतर का रसाग्रही मान कर बैठा। और यहीं से आरम्भ होती है उसकी एक सुदीर्घ प्रतीक्षा-यात्रा। प्रतीक्षा स्थूल रूप में फलवती हो या न हो, वह वस्तुतः कभी निष्फल नहीं होती—इसी आस बिस्वास और भरोस बल पर......

एहि आस अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।
अइहैं फेरि बसन्त रितु एहि डारिन मा फूल॥

और मदन-दुन्दुभी देता कामसखा वसन्त आया। चुभन अपना दंश लिए गुलाबी हरीतिमा के अवगुण्ठन में छिप गयी। श्याम पिक ने पञ्चम वेणु टेरा तो रसाल-वन बौरा उठा। लहलहाती वासन्ती सरसों को देखकर लगा—हमारी धरती के हाथ अन्ततः पीले हुए। बड़ी फिक्र थी सूरज को, सयानी धरती के हाथ पीले करने की। चलो छुट्टी हुई। सयानी बिटिया घर में अनब्याही बैठी रहे तो माँ-बाप की आँखों की नींद हराम हो जाती है, चैन जाता रहता है, खाया हुआ खाना नहीं पचता।

अभी-अभी शीत-हेमन्त के दौर में दरवाजे का पीपल, पड़ोस का बरगद, पिछवाड़े की लतर, सभी विपत्र हो गये थे। दिगम्बर शिव, जैन मुनियों जैसे यह पीपल और बरगद, दिगम्बरा महाकाली-सी इस लतर को नमन तो देता रहा, परन्तु भीतर की पुलक कहीं खो गयी थी। उदासी थी कि पहर-पहर डेरा डाल कर बैठ गयी थी। वसन्त आया, डालियों की भुजाएँ उठाये सपत्र अश्वत्थ और बरगद गौरांग महाप्रभु चैतन्य की संकीर्तन मुद्रा में खड़े नजर आये। एक पाँव से खड़ी तपस्या करती पार्वती-सी लतर ने मीराँ की तरह झूम कर साँवरे-सलोने गिरिधर को टेरा तो लगा, जैसें भीतर जो कुछ खो गया था, करुणावश

वह फिर लौट आया है। घर-आँगन-गलियारे में माँ-बाप की वात्सल्य-ममता-सी गझिन छतनार छाँह बिछ गयी।

लगा, जैसे राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में संगीत-स्पर्द्धा में किसी गंगूनर और उसकी पुत्रवधू चन्द्रप्रभा ने ऐसा कुछ टेरा था जिसके चलते अश्वत्थ और वट विपत्र हो गये थे, तभी प्रियतमा पद्मावती के आग्रह पर गीतगोविन्दकार महाकवि ने वसन्त राग टेरा और देखते-देखते अश्वत्थ और वट सपत्र हो गये। जैसे द्यूत में पराजित व्यसनी पतियों की प्रिया पाञ्चाली को कोई दुःशासन था कि जो विवस्त्र करने पर तुला हुआ था और सखी कृष्णा की टेर पर भागता हुआ कृष्ण आया था और द्रौपदी विवस्त्र होते-होते बाल-बाल बची। रंगों का पर्व उतर आया है, कृष्ण रंगनाथ जो ठहरे :

> सुन्दर सफेद सब्ज बैजनी हरेरी पेरी
> टेरी बहुतेरी कछु गनबे में न आये हैं।
> खाकी मुल्तानी औ' पियाजी जाफरानी;
> बहु धानी आसमानी आसमान लगि छाये हैं।
> लाल गुलेवासी गुलेनारी और गुलाबी पर
> फालसाई काटी औ' बदामी दरसाये हैं।
> द्रौपदी के काज ब्रजराज ह्वै बजाज मानो
> आदि के जहाज पट द्वारिका ते लाये हैं।

पलाशवन दहक उठे हैं, होलिकादहन का सन्दर्भ हरा हो आता है और साथ ही उभरता है एक सौम्य शान्त विनयी इस्पाती सत्याग्रही प्रह्लाद। एक मूर्त सविनय अवज्ञा। चट्टान के प्रतिरोध में वह एक कली की मुलायम रेशमी खुशबू की संकल्प-संवलित इस्पाती निष्ठा को रख देता है। स्वयं को परमात्मा कहने वालों का आज भी अभाव नहीं है, परन्तु अभाव है तो केवल उस सत्याग्रह का, जो पूर्ण सद्भाव के साथ प्रतिरोध का सम्बल बनता है।

जब-जब वसन्त आता है, दारागंज की सड़कों-गलियों में एक पदचाप अपेक्षाकृत अधिक मुखर होकर सुन पड़ती है। इस पदचाप को सुनने के लिए वीथियाँ जाने कब से कान दिये हुए बिसूरती होती हैं, जाने कब से उस स्वर को अनकती रहती हैं। दो दशक बीतने को हैं, परन्तु उनकी प्रतीक्षा नित्य हरी रहती है। पौरुषेय सौन्दर्य उसमें मूर्त हो गया था। ताम्रवर्ण, उन्नत ललाट, वृषभ स्कन्ध, गजशुण्ड-सी प्रलम्ब भुजाएँ, चौड़ी-पठारी छाती। कबीर और सुकरात का अशरण विद्रोह उसमें शरण पा गया था। बीज में जब रचनाधर्मिता का विस्फोट होता है तो सर्वप्रथम वह स्वयं को खण्डित करता है, वह सत्य उसमें रूपायित हो

वह फिर लौट आया है। घर-आँगन-गलियारे में माँ-बाप की वात्सल्य-ममता-सी गझिन छतनार छाँह बिछ गयी।

लगा, जैसे राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में संगीत-स्पर्द्धा में किसी गंगूनर और उसकी पुत्रवधू चन्द्रप्रभा ने ऐसा कुछ टेरा था जिसके चलते अश्वत्थ और वट विपत्र हो गये थे, तभी प्रियतमा पद्मावती के आग्रह पर गीतगोविन्दकार महाकवि ने वसन्त राग टेरा और देखते-देखते अश्वत्थ और वट सपत्र हो गये। जैसे द्यूत में पराजित व्यसनी पतियों की प्रिया पाञ्चाली को कोई दुःशासन था कि जो विवस्त्र करने पर तुला हुआ था और सखी कृष्णा की टेर पर भागता हुआ कृष्ण आया था और द्रौपदी विवस्त्र होते-होते बाल-बाल बची। रंगों का पर्व उतर आया है, कृष्ण रंगनाथ जो ठहरे :

सुन्दर सफेद सब्ज बैजनी हरेरी पेरी
टेरी बहुतेरी कछु गनबे में न आये हैं।
खाकी मुल्तानी औ' पियाजी जाफरानी;
बहु धानी आसमानी आसमान लगि छाये हैं।
लाल गुलेवासी गुलेनारी और गुलाबी पर
फालसाई काटी औ' बदामी दरसाये हैं।
द्रौपदी के काज व्रजराज ह्वै बजाज मानो
आदि के जहाज पट द्वारिका ते लाये हैं।

पलाशवन दहक उठे हैं, होलिकादहन का सन्दर्भ हरा हो आता है और साथ ही उभरता है एक सौम्य शान्त विनयी इस्पाती सत्याग्रही प्रह्लाद। एक मूर्त सविनय अवज्ञा। चट्टान के प्रतिरोध में वह एक कली की मुलायम रेशमी खुशबू की संकल्प-संवलित इस्पाती निष्ठा को रख देता है। स्वयं को परमात्मा कहने वालों का आज भी अभाव नहीं है, परन्तु अभाव है तो केवल उस सत्याग्रह का, जो पूर्ण सद्भाव के साथ प्रतिरोध का सम्बल बनता है।

जब-जब वसन्त आता है, दारागंज की सड़कों-गलियों में एक पदचाप अपेक्षाकृत अधिक मुखर होकर सुन पड़ती है। इस पदचाप को सुनने के लिए वीथियाँ जाने कब से कान दिये हुए बिसूरती होती हैं, जाने कब से उस स्वर को अनकती रहती हैं। दो दशक बीतने को हैं, परन्तु उनकी प्रतीक्षा नित्य हरी रहती है। पौरुषेय सौन्दर्य उसमें मूर्त हो गया था। ताम्रवर्ण, उन्नत ललाट, वृषभ स्कन्ध, गजशुण्ड-सी प्रलम्ब भुजाएँ, चौड़ी-पठारी छाती। कबीर और सुकरात का अशरण विद्रोह उसमें शरण पा गया था। बीज में जब रचनाधर्मिता का विस्फोट होता है तो सर्वप्रथम वह स्वयं को खण्डित करता है, वह सत्य उसमें रूपायित हो

गया था। बीज मिट्टी के साथ मिलकर स्वयं से निर्वासित हो जाता है, कदाचित् ऐसा ही कुछ उसके भीतर घटा था, घुमड़ा था, घिरा था, उमसा था और टूट कर बरस गया था जिस पर उसने मेघमन्द्र स्वर में घोषित किया था—

बाहर मैं कर दिया गया हूँ
भीतर पर भर दिया गया हूँ।

उसकी मस्त चाल, हर कदम से धरती को दबाते हुए चलना, जिसे देखकर मुग्ध होकर बरबस रामविलास जी ने कहा होगा कि 'गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार'। वीणावादिनि ने उसे वर तो दिया, जिसके चलते वह कभी चैन से नहीं बैठ पाया। एक बेचैनी का समुद्र बराबर उसके भीतर ठाठें मारता रहा—

आग जंगल में लगी थी सात दरियाओं के पार
और कोई शहर में फिरता था घबराया हुआ।

वसन्त के सन्दर्भ में हरीतिमा और कलियों और फूलों की चर्चा अपराध-सी जान पड़ती है जब कि अपनी धरती के अधिकतर फूल-कलियाँ खिल ही नहीं पाते। जाने कौन-सा अभिशाप है आदमियत को कि मुट्ठी भर चालाक लोग सारे-के-सारे लोगों के जीने के हक को भी रुग्ण बनाकर छोड़ देते हैं। हम अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष मना रहे हैं। टॉफी और खिलौनों की हकदार हथेलियाँ भीख माँग रही हैं। कापी-किताब-पेन्सिल और ब्रश की हकदार अँगुलियाँ होटलों में प्लेटें धो रही हैं, रिक्शा खींच रही हैं, जेबें काट रही हैं और नारकीय जीवन जीने को विवश की जा रही हैं—

वह फूल अपनी तबाही का हाल किससे कहे
कि सौ बहार भी आयें जो मुस्करा न सके।
बहारों में भी तबस्सुम नहीं कली के लिए
कि चमन तरस गये हैं फूल की हसी के लिए।

धरती की फुलवारी में सभी कली-फूल-फलों को सिंचन पाने का हक है, उन्हें बराबर से धूप-हवा-पानी पाने का अधिकार है। फिर वह कौन है जो इसके आड़े आता है? उसकी शिनाख्त करनी होगी, उसे रेखांकित करना होगा, उसे बेनकाब कर मिटाना होगा—उस तरह नहीं, जैसे गरीबी के नाम पर गरीब को मिटाया जा रहा है।

वसन्त आता है, आये। कलियाँ-फूल खिलें-फलें, बादामी धूप खेले-खिले, परन्तु कोई धूल-भरी आँधी उन पर टोना न मार सके, कोई प्रभञ्जन, कोई वात्याचक्र कोई चक्रवात उन पर टोटका न कर सके, कोई तुषारपात उन पर जादू न कर सके। इसके लिए कुछ न कर सकना सम्भव है क्या? मैं फूलों को देखता हूँ,

कलियों को देखता हूँ, उन्हें सराहता हूँ। एक सम्मोहन, एक वशीकरण भीतर-बाहर मुझे आच्छादित कर लेता है, परन्तु कोई फूल तोड़कर कोट के काज में नहीं टाँक पाता, कोई कली प्रिया के जूड़े में नहीं टाँक पाता, कोई फूल प्रतिमा पर नहीं चढ़ा पाता। मुझे लगता है, यह फूल-कली को टाँकना नहीं एक मुखर किलकारी को गूँगी बनाकर उसका सर काट लेना है। फूल और कली जहाँ खिले हैं, जहाँ गन्ध-प्रसार कर रहे हैं, वे वहीं अपने वृन्त पर ही प्रभु को निवेदित हैं, उन्हें तोड़कर देव-प्रतिमा पर चढ़ाना कैसा ! इस कारण जब किसी के काज में अथवा जूड़े में फूल टँका देखता हूँ तो मुझे रवि ठाकुर का कथन याद आता है : "मेरे फूल को किसी मूर्ख के काज में तुम्हारे स्वर्ग की आवश्यकता नहीं है" और तभी 'एक भारतीय आत्मा' के भीतर से एक फूल की चाह आवाज देती है—

चाह नहीं है सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के सर पर चढ़ूँ भाग्य पर इतराऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली औ उस पथ पर देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जायें वीर अनेक।

यह मौसम, यह बसन्त का मौसम मेरे लिए प्यार का, मनुहार का मौसम है। यह निवेदन, प्रार्थना का मौसम है। इसका सीधा सम्बन्ध हमारे भीतर के मौसम से है। ये फूल, ये कलियाँ प्रकृति की अपनी नियन्ता के प्रति निवेदित-समर्पित कृतज्ञता हैं। यह कृतज्ञता का निवेदन, यह आभार-ज्ञापन एक प्रार्थना है। प्रार्थना के इन समवेत स्वरों में मैं अपना भी एक कमजोर स्वर जोड़ देना चाहता हूँ। 'वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।'

जीवन : सुख-दुःख की धूप-छाँव

शीर्षक देकर, उसके बाद निबन्ध लिखना, ऐसा कुछ है, जैसे, माना धन एक्स है; यह तय करने के उपरान्त, बीजगणित का प्रश्न हल करना। जीवन इतना कुछ विराट् है, विशद है, व्यापक है कि वह हर प्रकार की गणित से परे है। कोई अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति; कोई सूत्र, सिद्धान्त अथवा परिभाषा; कोई धर्म, मत-मतान्तर; कोई वाद इतना पर्याप्त नहीं होता कि उसमें जीवन अट जाय। जीवन सब-कुछ का अतिक्रमण करता हुआ, उससे आगे बढ़कर निकल जाता है।

जीवन कवायद नहीं करता, वह एक सीधी लकीर भी नहीं है। हमारा जीवन एक डायरी के मानिन्द है जिसमें हम अपना मनचाहा कुछ लिखना चाहते हैं, परन्तु नियति अथवा परिस्थिति हमसे कुछ और लिखवा लेती है; और हमारे करुणतम क्षण वे होते हैं जब हम अपनी वाञ्छित इबारत से, जो घटित इबारत होती है, उसकी तुलना करते हैं :

चिन्ता के गहरे सागर में चंचल रात उतर जाती है।
जलतरंग पर थके वाद्य यंत्रों की व्यथा उभर आती है॥
मुझको मुख्य पात्र होना था लेकिन ये तब पता चला है।
जब चरित्र अभिनय में मेरी सारी उमर गुजर जाती है॥

तथापि, जिजीविषा का आग्रह होता है, "जीवन कभी सूना न हो, कुछ मैं कहूँ, कुछ तुम कहो।"

प्रश्न यह है कि हम जीवन से क्या समझते हैं? हमारी जीवन-दृष्टि क्या है? जन्म से मृत्यु-पर्यन्त अवधि को ही क्या हम जीवन का विस्तार मानते हैं? व्यक्तिगत जीवन को ही जीवन मानते हैं? अथवा, जीवन इससे इतर भी कुछ है? क्या केवल अस्तित्व ही जीवन है? या फिर, जीवन अथवा जीना स्वयं में कोई कला भी है? याद आती हैं बेधड़क जी की चार पंक्तियां—

जिन्दगी, एक है सेण्टेन्स अपने आप समझो।
इसके शब्दार्थ में ही पुण्य और पाप समझो॥

है जवानी क्या ? डेश बुढ़ापा कामा।
मौत को बेधड़क फुलस्टाप समझो ॥

यह हमारी अपनी पात्रता पर निर्भर करता है कि हम जीवन को एक 'सेण्टेन्स', वाक्य-आप्त वाक्य की भाँति अथवा सेण्टेन्स (सजा) की भाँति जियें। गीता आत्मा की अमरता द्वारा जिस शाश्वत, चिरन्तन, अनवरत जीवन-यात्रा की ओर संकेत करती है, मैं उसे ही स्वीकार करने का पक्षधर हूँ। जीवन को गम्भीरता से ग्रहण करने का अर्थ तो यह नहीं होता कि हम झोले की तरह मुँह लटकाये रहें। गम्भीरता उदासी अथवा मनहूसियत का पर्याय नहीं है। जीवन तो एक प्रपात है। देहरादून में सहस्रधारा देखा है कभी? जीवन का स्रोत तो एक होता है, परन्तु वह हजार-हजार धारा में होकर प्रवहमान होता है, एक अनवरत प्रवाह जीवन की शिनाख्त है—

चाहता हूँ, जिन्दगी इतनी।
एक चुम्बन की उमर जितनी॥

लम्बी अवधि अथवा संक्षिप्त अवधि का मेरे निकट कोई अर्थ नहीं है। सकर्मक शरदः शतम् जीना चाहता हूँ मैं, या फिर जीवन को आत्मा—रस जो अन्तर से प्राणों को खींचकर अधर तक ले आता है, ऐसे चुम्बन की, जीवन्त स्पन्दनों से लबालब जिन्दगी ही मेरे लिए श्लाघ्य है, वरेण्य है, स्पृहणीय है।

जीवन एक चुनौती है, उसे स्वीकार करना ही जीवन्तता का प्रमाण है। जीवन एक स्वप्न है उसे साकार करना ही कर्मयोग है। जीवन एक प्रश्न है, एक समस्या है, उसे हल करना ही करणीय है। परन्तु इस कर्मक्रम में माथे पर शिकन नहीं होनी चाहिए। यह शिकन माथे से उतर-उतर कर यदि मन-प्राण में उतर गयी तो समझो जीवन जीना स्थगित हो गया। हम साँस भले लेते हों, पर वस्तुतः जीते नहीं। इस शिकन को, इस सलवट को, इस सिकुड़न को जीवनदायिनी, रसप्रदायिनी प्रासंगिकता में देखो तो—"जिन्दगी है एक चिड़िया डाल की, जिन्दगी है एक शिकन कमाल की"; या "साड़ी की सिकुड़न-सिकुड़न में किसने लिख दी गंगालहरी" अथवा "सेज आमन्त्रण सुनो सीमन्तिनी, सलवटें सौगन्ध देती हैं तुम्हें" का मर्म अपनी समस्त प्राणवत्ता के साथ तुम्हारे बोध में अवतरित होगा।

प्रपात हो या निर्झर, वह पर्वत के मस्तक से नीचे उतरता है, पहाड़ का चट्टानी कलेजा चीरता है पानी, फिर चट्टान पर सर पटकता है, चूर-चूर हो जाता है, हर चूर टूटन को ही इंगित नहीं करती, जैसे मोतीचूर। हाँ, तो वह चूर-चूर होता है; स्वयं को बटोरता है; फिर एक धारा बनता है, ऊबड़-खाबड़

रास्तों को पार करता बीहड़ जंगलों में अपनी राह बनाता है। वह समझौते भी करता है, यकसां सपाट नहीं होता—

Beg or borrow
Joy or sorrow
But hail for tomarrow.

"गम मिले, खुशियाँ मिलें, कुछ भी सही, जिन्दगी को इक सहारा चाहिए।" तब कहीं कोई फिराक कहता है, "पाल ले इक रोग नादाँ, इस सफर के वास्ते। सिर्फ सेहत के सहारे जिन्दगी कटती नहीं।' एक हार, एक टूटन, एक थकान, इनका तो स्वभाव है तिल-तिल तोड़ना, परन्तु यदि कोई अनुग्रह आप में जीने का आग्रह पैदा कर दे तो इनका स्वभाव भी बदलता है, ये तिल-तिल तोड़ते ही नहीं, तिल-तिल जोड़ते भी हैं। एक आत्मतोष आपके पराजय-बोध को सोख लेता है और आप घोषित करते हैं—

अलअमा जीस्त का यह रेगिस्तान
अपनी तरदामनी बहुत है मियाँ
हम जहाँ हैं, वहां अब अपने सिवा
एक भी आदमी बहुत है मियाँ
किसको मंजिल किसे कहाँ ले जाय
राह का साथ भी बहुत है मियाँ

अपने भीतर घुटती जिन्दगी को मुक्ति, विस्तार देकर देखो। नदी, पहाड़, झरने, चाँदनी रात, सितारों-भरा आसमान, समुद्र, फूल, पत्ते, लता, वृक्षों, आकाश नापते परिन्दों से तादात्म्य स्थापित कर देखो; उल्लास की किलकारी, खिल-खिलाहट-भरा गदबदा शैशव; अनन्त शिव संभावना-सम्पन्न गदरायी तरुणाई; छीजते बुढ़ापे; समृद्ध होते वार्द्धक्य; बेकस मजलूम की आह-कराह, आँसू से रिश्ता जोड़ कर जियो; जीवन तुम्हें एक ऐसी कर्मभूमि प्रदान करेगा जहाँ ऊब, उबासी, उदासी और बासीपन के लिए कोई गुंजाइश नहीं होगी, ओस-नहाये कमल-पत्रों की ताजगी से तुम्हारे पोर-पोर निरन्तर अभिषिक्त रहेंगे।

भाई सुनो! बहुत बड़े आदमी ने कहा है, 'ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या।' उनके सामने अपनी बिसात ही क्या है? न पिद्दी, न पिद्दी का शोरबा, परन्तु मैं क्या करूँ, मन है कि इसे स्वीकार ही नहीं करता। यह सारा दृश्य जगत् मेरे भगवान् का लीला-विग्रह है और मुझे मिलाकर हम सब उसके लीला-सहचर हैं। शंकर! मुझे क्षमा करना, एक पल के लिए भी इस लीला-विग्रह को, अपने लीला-साहचर्य

को मैं मिथ्या नहीं कह पाऊँगा। अगोचर को मैं नहीं जानता, परन्तु जो कुछ गोचर है, वह गोपाल की गोचारण-भूमि मधुवन वृन्दावन है। अस्तु, इस गोचर जगत् को मैं एक निमिष के लिए भी मिथ्या नहीं कह पाऊँगा। यह सारा-का-सारा कुछ हमारे जीवन का विस्तार ही तो है। मैं अनुरागी हूँ, अनुरक्ति पर मेरी आस्था है। विराग, विरक्ति तो मेरे लिए खोटे सिक्के हैं। हाँ, यदि विराग का अर्थ विशिष्ट राग अथवा विरक्ति का अर्थ विशिष्ट अनुरक्ति हो तो वे मेरे काम के हो सकते हैं।

मेरी समझ में, चदरिया का जतन से ओढ़ना और ज्यों-का-त्यों धर देना आता है। हालाँकि, यह भी मेरी औकात के बाहर की बात है; परन्तु कामना जरूर करता हूँ कि ऐसी कुछ कृपा हो जिसके चलते मेरे आचरण में यह चरितार्थ हो सके। "सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा" किसी स्वस्थ बोध के तल पर उगे तो स्वागत है, परन्तु आतंक के तल पर मैं इसे नकारता हूँ। वह संसक्त तटस्थता मेरी अभीप्सा है जिसके अधीन मैं कह सकूँ, "जियो तो ऐसे जियो, जैसे सब तुम्हारा है, मरो तो ऐसे कि जैसे तुम्हारा कुछ भी नहीं।" पण्डित कृष्णकान्त मालवीय का मूल मन्त्र था, "जियो तो सिंह की तरह, वर्ना मृत्यु की गोद में सो जाओ।" मृत्यु-भय से मुक्ति ही सच्चे जीवन का अथ है। जीवन की परिभाषा के अन्तर्गत रेखांकित कर पाने में असमर्थ व्यक्ति कहता है, "जीवन वह ग्रन्थ है जिसका प्रथम एवं अन्तिम पेज गायब हो गया।" अस्तु, अद्यतन जीवन का अथ एवं उसकी इति का छोर पाया नहीं जा सका।

जीवन तो एक असमाप्त यात्रा है, असमाप्त रह जाना ही इसकी श्रेयस्कर परिणति है। इस यात्रा में विराम नहीं है, यह पूर्ण नहीं होती, यह सम्पन्न भी नहीं होती। जिन्दगी निरन्तर एक यात्रा पर होती है—

मेरी जिन्दगी एक मिसले सफर है
जो मंजिल पे पहुँचा तो मंजिल बढ़ा दी।
× × ×
तलाशो तलब में वह लज्जत मिली है
दुआ कर रहा हूँ कि मंजिल न आये।

जिन्दगी का सोद्देश्य होना ही उसके स्पन्दन का प्रमाण है। स्पन्दन स्थगित हो या न हो, परन्तु निरुद्देश्य जिये तो स्वयं को मृत ही मानो। सोद्देश्य जीने वाले इतिहास के मुखापेक्षी नहीं होते, देहतल पर चुक जाने के बाद इतिहास उनका हिसाब नहीं रख पाता, वह रखना नहीं चाहता, ऐसा नहीं है; उसका खाता खोल सकना उसकी औकात से परे होता है। इतिहास तो उसके सहारे चलता है; इतिहास स्वयं उसके यहाँ अपना खाता खोलता है।

कौन अधिक जीवन्त है—दैहिक-तल व्यतीत हुए ऐसे लोग, या देहतल पर उपस्थिति मात्र बने हुए हम सब ? "कर्मसंकुल जीवन-यापन स्वयं में एक उदात्त उद्‌घोष है", "चला जाता हूँ, हँसता खेलता, मौजे हवादिस से। अगर आसानियाँ हों, जिन्दगी दुश्वार हो जाये।" उसकी प्रार्थना भी ऊर्ध्वगामी यात्रा के लिए होती है। "असतो मा सद्‌गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय ! मृत्योर्माऽमृतम् गमय !" चिता पर भस्म तो सभी होते हैं; विरले हैं जो भस्म तो होते हैं, मगर अगरबत्ती की तरह वातावरण को उनकी सुगन्ध का आभार-ऋण स्वीकार करना होता है।

किसी गरीब, असहाय, निरुपाय, विवश पर दया मत करो। उसे दयनीय मत मानो, उसे दान मत दो, वह याचक नहीं है। उसे तुम्हारी दया एवं दान की बैसाखियाँ नहीं चाहिए। सहानुभूति के धरातल पर उसकी आँखों के आँसू अपनी आँखों में सहेज लो, उसकी हताशा को साहस, विश्वास, आशा का सम्बल दो, उसके संघर्ष को, उसके संघर्ष की आस्था को, उसकी धार को अपने सहयोग का पैनापन दो, तुम्हें लगेगा कि सारा-का-सारा जीवन एक पूजा, एक प्रार्थना की कृतार्थता से मण्डित हो गया है।

हृदयरोग से उत्पीड़ित होने के बावजूद, जीवन के प्रति इसी रचनात्मक-धनात्मक दृष्टिकोण के चलते भवानी भाई घोषित करते हैं—"मेरा होल्डाल बँध गया है, स्टेशन तक पहुँचाने वालो, खबरदार रोना नहीं; तीर्थयात्री का रास्ता गीला होगा।" **मैं कहना चाहता हूँ, मेरे यार ! मेरे हमदम ! मेरे दोस्त ! मेरे बाद मेरे लिए रोना नहीं; मेरी पंक्तियों में, मुझे देखना, वहाँ तुम्हें मेरी नरम-गरम साँस मिलेगी, उसी में मुझसे मिल बैठना, मेरे शब्द तुमसे गप लड़ायेंगे, चुहल करेंगे।** तुम्हारा आचरण यदि निरभिमान होकर खम ठोक कर कह सके तो इतना ही पर्याप्त होगा—

न सर झुका के जिये हम, न मुँह छिपा के जिये।
सितमगरों की नजर से नजर मिला के जिये॥
अब एक रात अगर कम जिये तो हैरत क्या।
हम उनमें थे जो मशअलें जला के जिये॥

एक दीया आँचल की ओट

यदि मैं गलत नहीं हूँ तो वह शायद सन् १९४७-४८ का जमाना था। इलाहाबाद की एक काव्य-गोष्ठी में एक कवि कविता-पाठ कर रहे थे—

चिराग तू जला करे तमाम रात,
कि रीझकर उतर पड़े नवल प्रभात।

और मेरे भीतर का किशोर रचनाकार भक्ति-भाव से, मुग्ध मन-प्राण से उस रचना को सुन रहा था। मेरे मानस में दीपक का तपस्वी रूप झिलमिलाने लगा था। मैं दूर, कहीं बहुत दूर स्वयं के संधान में खो गया था। तमाम रात दीया जलता रहा। यह जलन ईर्ष्या की जलन नहीं थी। यह जलन द्वेष की जलन नहीं थी। इस जलन में स्पर्द्धा नहीं थी। यह जलन 'देखि न सकहिं पराइ विभूती' की जलन नहीं थी। यह आँच है, एक सुकुमार लगन, एक कोमल धुन, एक शुभ व्रत अथवा एक शिव संकल्प की। यह जलन नरम-नरम नैनू वर्ण का उजाला बिखेरती जलन है। अधरों पर जोगिया जलन की अलख, रटन, अजपा जाप लिये, दीये का तप व्यर्थ नहीं गया। नवल प्रभात को रीझकर उतरना पड़ा।

इस बीच मुझे लगातार आँचल की ओट में लरजते उस दिये की क्षेम-कामना सताती रही जो आँचल की छाँव में अन्त:करण के निकट होकर अंतरतम को जगमग उजागर करना चाहता है; परन्तु—

एक झोंका ले रहा नन्हें दिये का इम्तहान
हवा के रुख पर सफलता है बताओ क्या करें?

रीझकर नवल प्रभात तो उतरा, पर यह क्या हुआ! सूर्य 'वरं ब्रूहि' की मुद्रा में दीये के समक्ष आ खड़े हुए। उन्हें उम्मीद थी कि दीया दीन, दयनीय याचना में काँपता-थरथराता, कर पसारे गिड़गिड़ायेगा और वे तथास्तु अथवा एवमस्तु कह, वरदान के दो-चार टुकड़े उसकी झोली में डाल देंगे। वह धन्य हो जायेगा और वे दाता के राजस् अहंकार की तृप्ति का स्वाद भोगेंगे। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह तो दीया है, उसने तो केवल दिया है, उसने तो कभी लिया

नहीं, उसने तो कभी माँगा नहीं। फिर उससे याचना की दुराशा कैसी ? तपस्या का मन्तव्य क्या केवल याचना है ? तपस्या का क्या कोई अपना सुख नहीं होता ? उसने कुछ नहीं माँगा, उसने कुछ नहीं कहा। उसने एक मौन प्रतिवाद को, एक निःशब्द अस्वीकार को बुझकर मुखर कर दिया। वे, जिनका स्वाभिमान के स्व' से कभी कोई दूर का भी सरोकार नहीं रहा, इसे महज कंगलटिर्रई कहकर ,मुँह बिचका लेंगे।

मेरे सामने फिर एक तस्वीर उभरती है। राम सीता से कहते हैं, 'सीते ! साकेत लौट चलो, तुम्हारे बिना जग अँधियार है; अयोध्या का राजसिंहासन सूना है।' सीता आँखों में वियोग भरकर एक बार प्रिय की ओर देखती हैं, 'सीता धरती में गइलीं समाय मुँहवा से कुछऊ न बोललीं'। यह मिट्टी का दीया धरती की बेटी हमारी सिया ही तो नहीं है। मैं सोचता हूँ—जब सूर्य दीया को नहीं समझ पाया, फिर यदि सूर्यवंशी राम सियाजी को नहीं समझ पाये तो आश्चर्य कैसा ?

दीया बुझ गया, पर अभी धुआँ फूट रहा है। यह धुआँ संकेत कर रहा है कि अभी आगे और राह है, ज्योति का कारवाँ स्थगित नहीं होगा, क्योंकि जहाँ चाह होती है, वहाँ बन्द गली में भी राह फूटती है।

हाँ, रीझकर नवल प्रभात उतरा तो, परन्तु यह कैसा अभिशाप रहा—

रात तो अतीत हुई, मगर नहीं बीतती,
भोर के उजाले पर स्याहियाँ उलीचती।

यह कौन-सी रात है जो इतनी गुस्ताख है ? इसकी सही-सही शिनाख्त करनी होगी और सरेआम बेनकाब कर इसे अदालत के कटघरे में खड़ा करना होगा। इससे कम में इन्साफ का तकाजा पूरा नहीं होगा।

रात, अमावस्या की रात, इतनी अँधेरी, एकदम घटाटोप अन्धकार, निरभ्र आसमान में सितारे टिमटिमा रहे हैं, लगता है कजरारे लोचन डबडबा रहे हैं। धरती पर कतार-के-कतार दीये बन्दनवार की तरह जगमगा उठे। 'नभ आज मनाता तिमिर-पर्व, धरती रचती आलोक-छन्द।' छन्द की बात कर रहे हो ? आज सन् १९७९ के इस उत्तरार्द्ध में, पागल हो गये हो क्या ? जीवन में, जगत् में, कोई व्यवस्था, कोई छन्द बच रहा है क्या ? आदि से अंत तक अतुकान्त, श्रीमान् श्री लक्ष्मीकान्त जी ने सुन लिया तो क्या होगा ? सुनें तो सुनें, जब हजारहा मना करने पर भी एक के बाद एक तस्वीर जिहन जेहन में उभरती चली आ रही है तो हम क्या करें ?

दीया अपने वायदे का पक्का है। सुबह होते न होते जब सूर्य के सूप से चावलों-से सारे-के-सारे नखत पछोरे जा रहे थे, दीये को बुझता देख वह डब-डबायी जोड़ी आँखें अधीर हो उठी थीं। तब उसने समझाया था, 'मैं फिर तिमिर कुञ्ज में खिलूँगा, तुम दुःखी मत होना।' और वह तिमिर-कुञ्ज में फिर खिल उठा। दूर किसी पर्णिका में एकान्त तन्वंगी निष्कम्प दीपशिखा दीख पड़ी। प्रत्येक दीपशिखा अपने एक प्रभामण्डल से मण्डित होती है। वह कभी एक पाँव से खड़ी तपस्यारत पार्वती, तो कभी विष्णु के श्यामल प्रशस्त ललाट पर केसर-तिलक-सी लगी। दीपशिखा तो कविकुल-गुरु कालिदास का पर्याय हो गयी है। उन्होंने इन्दुमती को दीपशिखा की उपमा दी थी ना? दीपशिखा की चर्चा उठे तो कोई महादेवी को कैसे भुला पायेगा। तिमिर-वृन्त पर झूलती गुड़हल की कलियों-सी अनेक लौ, जाने किससे लौ लगाये थिरक रही हैं। अगर इनके साथ मन थिरक न उठे तो समझो मन में कहीं कुछ खोट जरूर है। जब मन थिरकता है तो उसका भी अपना एक आग्रह होता है—

तिमिर चरण आलोक पैंजनी,
थिरक-थिरक मावस की रजनी।

इतना उल्लास, इतना आनन्द, इतने प्रसार में निमग्न अन्तःकरण में फिर कुछ कसक उठता है, 'दीपक से काजल बढ़े, कमल कीच ते होय।' उफ्! हर बार यही होता है! गांधी हों या जयप्रकाश, वे लक्षावधि दीपों को लौ देते हैं और यह कृतघ्न दीये? काजल, केवल काजल उगल-उगल कर एक ऐसी काजल की कोठरी तैयार कर देते हैं जिसमें सयाना-से-सयाना आदमी भी जाये तो बिना काजल की एक लीक लगे रह नहीं सकती।

यह कैसा विपर्यय है? आलोक-पर्व दीपावली आलोक-पुञ्ज बादशाह राम-स्वामी रामतीर्थ को जाने किस आलोक-लोभ में पुण्यतोया गंगा ने अपने अंक में समेट लिया था। शिवलिंग की असमर्थता के सन्दर्भ में शिवरात्रि को बोध प्राप्त करने वाले मूलशंकर महातार्किक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने विषपान कर दीपा-वली के दिन स्वयं को शिव की विषपायी नीलकण्ठ-परम्परा के साथ खड़ा पाया। गरलपान कर वे सुकरात और मीराँ की कतार में खड़े हो गये। 'फेयरवेल टु आर्म्स' का रचनाकार अर्नेस्ट हेमिंग्वे, जो शस्त्रों-अस्त्रों को विदाई देना चाहता था, स्वयं एक शस्त्र के ही द्वारा संसार से विदा लेता है।

मुझे याद है, अम्मा ने एक बार कहा था—'करवा करवारी, ओके बरहे दिन देवारी', अर्थात् करवा चौथ के बारहवें दिन दीवाली होती है। मैंने बालसुलभ जिज्ञासावश अम्मा से पूछा था, 'क्या दीवाली, करवा चौथ की बरही है?'

अम्मा हँस पड़ी थीं। उनकी हँसी को स्वीकृति मानकर मैंने पूछा था; 'तब तो दीवाली बरही के दिन सुठौरा बँटना चाहिए। यह लाई-लावा, बताशे, चीनी के खिलौने क्यों बँटते हैं ?' अम्मा फिर हँस पड़ी थीं। उनका हँस देना, मेरी अनेक समस्याओं का समाधान होता था। समस्याएँ आज भी बहुत हैं, मगर उस एक निर्मल हँसी के अभाव में उनका समाधान नहीं मिलता। वह हँसी समाधान न सही, समाधान का आश्वासन अवश्य होती थी।

दीपावली अपने साथ पर्वों का एक गुलदस्ता लेकर प्रस्तुत होती है—

कण-कण बसते तीर्थ करोड़ों, क्षण-क्षण पर्व जहाँ हैं।
कोई बतलाये दुनिया में ऐसा देश कहाँ है ?

छोटी दीवाली, अर्थात् हनुमान् जयन्ती, नरक चतुर्दशी, दीपावली, अन्नकूट, यम द्वितीया, भइया दूज आदि। छोटी दीवाली सेवा और दास्य भक्ति के प्रतीक भक्त-प्रवर हनुमान् का जन्म-दिवस है। 'राम ते अधिक राम कर दासा।' आज देश में राम-मन्दिर कम, हनुमान्-देवालय अधिक हैं। भक्त के भगवान् हो जाने की जो सेवा-समर्पण-यात्रा है, हनुमान् उसके जीवन्त प्रमाण हैं।

मेरी दृष्टि प्राचीन और अर्वाचीन से परे काल के उस खण्ड की यायावरी स्वीकारती है जहाँ इतिहास की पहुँच नहीं है, जो इतिहास का मुखापेक्षी नहीं है, हो सकता है इतिहास ही उसका मुखापेक्षी हो।

वाराह के अंश से भूमि ने एक पुत्र को जन्म दिया था, उसे लोक ने भौम के नाम से जाना। कालांतर में वह अन्यायी-आततायी हो गया। लोक ने घृणावश उसे नरकासुर का नाम दिया। अब वाराह विष्णु ही कृष्ण थे और भूमि ही सत्य-भामा थी। इंद्रादिक देवता फरियाद लेकर पहुँचे। कृष्ण ने सत्यभामा की ओर देखा, क्या कहती हो ? आततायी-अन्यायी कोई हो, वह केवल आततायी और अन्यायी है। वह बेटा भी हो तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह दण्ड का भागी है। आखिर भगवान् सदाशिव शंकर ने भी तो अपने अन्यायी पुत्र अंधक का वध करने में कोई संकोच नहीं किया था।

निश्चेष्ट होकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।

स्वयं सत्यभामा, भौम की माँ ने समर्थन दिया। कृष्ण ने सत्यभामा को साथ लिया, माँ के समक्ष, लोकपालक पिता ने बेटे का वध कर दिया, उसे दण्डित किया। नरकासुर के वध के उपलक्ष्य में भी लोगों ने दीपमालिका सजानी शुरू की थी। उस तिथि का नाम ही नरक चतुर्दशी हो गया।

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय,
बारे उजियारो करै, बढ़ै अँधेरो होय ।

मैं सोचता हूँ, कृष्ण और शिव व्यावहारिक नहीं थे । उन्होंने नादानी की थी । बच्चे थे, नादानी हो गयी; अथवा की भी तो ऐसा भी क्या कि उन्हें दण्डित किया जाता । उसके लिए कार का उलटा-सीधा धंधा करवा देते । लोग-बाग आरोप-पर-आरोप लगाते रहते, एक महान् गांधीवादी की तरह अड़ जाते—जब तक आरोप के लिए प्रत्यक्षतः कोई प्रमाण न हो, जाँच के लिए आयोग नहीं बिठाया जायेगा । दुराचार में बेटों की फोटो खिचती है ? खिचती रहे । मूछों पर ताव देकर कहते—आरोप लगाने वाले धोबी हैं, इन्होंने तो राम और सिया मैया को भी नहीं बख्शा । लोग दो-चार दिन हल्ला मचायेंगे, फिर सब-कुछ टायँ-टायँ फिस्स हो जायेगा । कान करो बहरा, पेट करो गहरा, दामाद तो दुलरुवा होता ही है । कुछ खा-पी लिया तो ऐसा क्या था जो आसमान फट पड़ा । उन्हें गाँव-देश के लोककथा-वर्णित कुनबापरस्त पंडित जी की तरह तथाकथित शास्त्र-सम्मत व्यवस्था देनी चाहिए थी—

जहाँ रहैं बेटवा सन्तोष, उहाँ न गदहा मारे दोष ।

दीपावली के दिन, ब्राह्मवेला में, सितारों की छाँव में, उबटन लगाकर अम्मा हमें स्नान करातीं, हमारे ऊपर से छोटी-छोटी आटे की हल्दिका-दिवलियों से बलाएँ उतारी जातीं, प्रसाद के लड्डू दिये जाते और हम पिताजी के साथ नये-नये कपड़े पहनकर हनुमान्-दर्शन करने जाते । पर्व की सार्थकता, उसकी उत्सवधर्मिता हमारे घरों में रसी-बसी थी । वह रस कहीं खोकर केवल औप-चारिकता की केंचुल छोड़ गया है ।

किसी ने सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता अर्नाल्ड टायनबी से पूछा, 'इतिहास स्वयं को दुहराता है, इस कथन का क्या आशय है ?' विचारक टायनबी ने कहा, 'लोग इतिहास से सबक नहीं लेते, इसलिए इतिहास बार-बार स्वयं को दुहराता है, आगत के प्रति यह इतिहास की करुणा एवं वात्सल्य है ।' द्यूत के लतियल युधिष्ठिर और नल की दुर्दशा देखने-सुनने-समझने के बाद भी दीवाली के दिन द्यूत में अपना दीवाला निकाल बैठते हैं ।

दीपमालिका की कालरात्रि, तंत्र एवं शक्ति के उपासकों के लिए सिद्धि की सर्वोत्तम सर्वाधिक अनुकूल रात्रि कही गयी है । चौदह वर्ष के उपरांत राम 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की गोद में लौटे थे । सारी अयोध्या ने, जिसकी पीठ पर सरयू की वेणी लहरा रही है, नवोढ़ा-सा श्रृंगार किया था ।

गणेश-लक्ष्मी का पूजन हो रहा है । मैं देख रहा हूँ पूजन के लिए सामने रखे नन्हें दीप-स्तम्भ की छाँव में अँधेरा दुबका बैठा है । चिराग-तले अँधेरा,

बिलकुल वैसा, जैसे गणेश-तले मूषक। चूहे के भय से जब वह हृदय से आ लगती है, तब तो उसके प्रति मन एक आभार, एक कृतज्ञता से भर उठता है, परन्तु जब यह ख्याल आता है कि इसने ही बमुश्किल तमाम बने मेरे कोट और लिहाफ को कुतर दिया था, गरीबी में आटा गीला, एक असहायता, एक निरुपायता सालने लगती है। इसकी फरियाद भी करूँ तो किससे ? भला गणेश अपने वाहन के विरुद्ध कुछ सुन सकेंगे ?

लक्ष्मी-वाहन उलूक के पास तिमिरभेदी दृष्टि होती है, ऐसा कहा जाता है। यदि यह सच है तो हलके ढंग से कहे गये नितांत निराशावादी कथन को भी एक आशा से रेखांकित किया जा सकता है, 'हर शाख पे उल्लू बैठे हैं तब हाले गुलिस्ताँ क्या होगा।' भारत में उल्लू मूर्खता का, दृष्टिहीनता का प्रतीक है, परन्तु पश्चिम में वह बुद्धिमानी का प्रतीक माना गया है। परमात्मा करे, ये उल्लू अपनी तिमिरभेदी दृष्टि की क्षमता का सदुपयोग कर देशव्यापी, तमसावृत सात्विक संदर्भों को उजागर कर सकें।

उदयाचल से अस्ताचल की यात्रा में जब सूरज थक जाता है, हारकर टूटने को होता है, उसका ज्वलन्त उत्तराधिकार नन्हा-मुन्ना दीया अपने कन्धों पर स्वीकारता है। हृदय में भरे अपरिमित स्नेह के भरोसे वह इस गुरुतर दायित्व को वहन करता है। प्रजापति कुम्भकार को इसका अनुमान भी नहीं होता कि कल कच्ची मिट्टी से दीये के जिस रूप को उसने सँवारा था, आवाँ में अग्नि-परीक्षा से गुजारा था, अन्धकार की चुनौती एवं सूर्य की धधकती हुई विरासत को स्वीकारने की उसकी इतनी अहम् भूमिका होगी। अपने-अपने दायरे में, अपनी-अपनी अपरिमेय क्षमता एवं सामर्थ्य को बिसारे हुए, हम सभी अभिशप्त हनुमान् हैं। हम उद्बोधित हो सकें, इसके लिए हम सभी को किसी जाम्बवान की प्रतीक्षा एवं अपेक्षा है।

कोई कब तक, आखिर कब तक अनसुना कर सकता है ? यदि आपके, हमारे पास हृदय है और हृदय में रस का कोई भी एक कण शेष है, तो अभी-अभी शारदीया में सम्पन्न हुआ महारास, वेणु-सम्मोहन, नूपुर-किंकिणि-कंकण का रणन-क्वणन, वह हरसिंगार की भीनी-भीनी महक, रूपगर्विता चाँदनी की मूर्च्छना आपको, हमें स्पर्श तक न करे, यह सम्भव नहीं है। चाहता हूँ यह सब मुझे स्पर्श ही करके न रह जायें, वरन् मुझे सराबोर करें, झकझोरें। मैं रस के अहर्निश अनवरत अभिषेक में स्थित रहूँ। उपनिषदों में कथित रसरूप ब्रह्म को उपलब्ध होऊँ और उपलब्ध रस के कण-कण को जन-जन में व्यय करने में छीजूँ, चुकूँ और व्यतीत होऊँ तो, तथापि समवेत रूप से कालातीत हो जाऊँ।

●

हरियाली पीहर आयी

कभी झींसी, कभी झिसियारी, कभी बूँदा-बाँदी, कभी फुहारा, कभी रिमझिम, कभी बौछार, कभी मूसलाधार, गरज यह कि पावस का शुभागमन : स्वागतम् ! चारों ओर एक खुशगवार मौसम ! बरबस नरेन्द्र शर्मा की पंक्ति : 'पवन चलाये बान बूँद के, धरती सहती आँख मूँद के' यादों के आसमान पर उभर कर फैल जाती है। सूरज ने हन-हन कर अगिन-बान चलाये थे, धरती का कलेजा दरक गया था, हिरनी खून फेंकने लगी। सड़क पर कितना कोलतार पिघला, छाँव किसी साँवले खरगोश की तरह बेपनाह भागी जा रही थी, पर पानी कहाँ था। कैसा निर्दयी था वह बाप जिसने हरियाली को काले कोस ब्याह दिया था। हरियाली पीहर आयी है, पुरवा झुरकी और बल खाते हुए दूर्वांकुर दुहर गये, लगा जैसे खिलखिलाते हुए बालखिल्य ऋषियों को, शरीर पुरवा ने गुदगुदा दिया हो और हँसते-हँसते उनके पेटों में बल पड़ गये हों, उन पर पड़ी जल की बूँदें, जैसे हँसते-हँसते आँखें छलछला आयी हों।

आँगन में फूल की थाली पर बूँदों के घुँघरू जलतरंग की तरह बज उठते हैं। तुलसी की वेदी पर पंख फुलाये गौरैया चहकती है, कौआ चोंच से अपने गीले पंख खुजला रहा है और साथ ही, काँव-काँव भी लगाये हुए है। एक अद्‌भुत आर्केस्ट्रा तैयार हो गया है। रूप-रस-गंध-पराग का नायाब तोहफा लिए कोनिश करते फूल और कलियाँ। सुधियों में बचपन कौंध जाता है।

बाहर का मौसम हजार बदले, पर यदि भीतर का मौसम नहीं बदला, तो बात क्या बनी ? सजल श्यामल मेघ छाये, परन्तु भीतर कहीं भी मेघवर्ण शुभांग की प्रतीति नहीं हुई। पिक ने टेरा, पपीहे की 'पिउ कहाँ' की आर्त कातर टेर। घनश्याम आये। पर मन इतना ठस है कि लगा ही नहीं, कहीं घनश्याम ने न वेणु टेरी, न वह धेनु की तरह वेणु-ध्वनि पर दीवाना होकर भागा, न वह गोप-गोपियों की तरह बेसुध ही हुआ। 'रघुनाथ-घन' के लिए चातक तुलसीदास नहीं हुआ। मेघ घिरे और मयूर न थिरके, यह कैसे सम्भव है ? मेघ घिरता है तो मोर के पाँवों में अनायास कम्पन और थिरकन आ जाती है। 'वने-मयूरागगने च मेघा ...यो यस्य प्रीति नहि तस्य दूरं' का आश्वासन सुगन्ध देने लगती है।

अब तो राह चलना भी दूभर हो गया है, कहीं किसी हरेपन पर पाँव न पड़ जाय। हरापन रौंदने के लिए तो नहीं होता। सुना है प्रातःकाल टहलने वाले दूर्वादलों पर पड़ी ओस को पाँव से पाने के लिए नंगे पाँव उन पर टहलते हैं। यह कदाचित् स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद भी बतलाया गया है, पर मेरी समझ में यह बात आती नहीं है। पुरवइया चलती है तो पुरानी चोट हरी हो जाती है, दर्द बढ़ जाता है, सोचता हूँ क्या हरापन भी पिराता है ? घाव भी हरा और ताजा हो जाता है। ताजगी का हरेपन के साथ चोली-दामन का रिश्ता है।

कोई हरापन पाँव के तले न पड़ जाय, इसलिए क्या सर पर पाँव रखकर चल सकना संभव है ? भले ही न हो, तथापि अलजीरिया जाने को तत्पर एक सैलानी को सम्बोधित करता हुआ फ्रांसीसी कवि कहता है : "वहाँ तीर्थयात्रियों की तरह जाओ, कभी एक क्षण को भी स्वयं को सैलानी समझने की भूल मत करना। यदि मुमकिन हो तो अपने पाँव सर पर रखकर चलना, वह शहीदों की सरजमीं है; ऐसा न हो कि तुम्हारा पाँव किसी शहीद की मजार पर पड़ जाय। धन्य है ऐसी बलिदानी धरती।"

एक तो तेज पानी, उसके साथ आँधी थी। बड़े बाबू की छतरी उड़ने को हुई, बड़े बाबू ने बड़ी मजबूती से पकड़ रक्खा था, तिस पर भी पहले तो वह उलट गयी, फिर बरबस हाथ से छूट कर उड़ गयी। लगा जैसे बुढ़ापे में जवान बहुरिया दगा दे गयी हो। कुछ खिलण्डरे लड़के जो पानी में धमा-चौकड़ी मचाये खेल रहे थे, उन्हें मजा आ गया, वे ठहाके लगा रहे थे। कुछ वयस्क भी उनकी हँसी में हँस रहे थे। मुझे लगा—उम्र में वे भले ही वयस्क हों, परन्तु तबियत से अभी खिलण्डरे-के-खिलण्डरे ही हैं। मैं बड़े बाबू की आँखों में वह गहराती मायूसी, वह अवसाद पढ़ रहा था जिसमें साफ-साफ कहा जा रहा था कि पिछली बरसात तो भीगते कटी थी, कितनी जरूरतों को काट कर, बमुश्किल तमाम इस छतरी का जुगाड़ लगा पाया था, सो यह भी साथ छोड़ गयी। अब नयी छतरी फिर नसीब कहाँ ? छतरी क्या गयी, जैसे भद्दर बुढ़ापे में जोरू चल बसी हो।

पानी बरस नहीं रहा था, मानसून जैसे यहाँ भी ठहर गया था। सम निकलता जा रहा था, चतुर्दिक् त्राहि-त्राहि मची थी। शिवालयों में पंडितों भगवान् शंकर की तुष्टि के लिए रुद्री का समवेत पाठ प्रारम्भ कर दिया था कहा जाता रहा कि दूकानदारों ने पानी गाड़ रखा है, ताकि पानी न बरसे चारों ओर बरसे, इलाहाबाद तरसे। सूखा पड़े, महँगाई बढ़े, मुनाफे में खूब रख चोरी जा सके। अपने देश में एक जमात ऐसी भी है जिसे हर मूल्य पर मुना

चाहिए। वह भोजन में कंकड़-पत्थर मिलाकर बेचती है, वह दवा के नाम पर जहर बेचती है; उसने तस्करी की और भारतीय सीमेण्ट से चीन ने लेह में सड़क बनायी; भारत-पाक युद्ध चल रहा था; वह शत्रु-सेना को चावल भेज रही थी।

शत्रु की गाड़ियाँ भारत से तस्करी में भेजे गये पेट्रोल से चल रही थीं। सीमा पर जवानों के लिए एकत्र गरम कपड़े, कम्बल खुले आम बाजार में बिक गये।

उसका तुर्रा है कि हमारा ही एक पूर्वज है 'साधु नाम वैश्य' जो युगों से वायदा-खिलाफी की तोहमत अपने सर पर महज इसलिए ढो रहा है ताकि उसकी कथा सुन-सुन कर लोग अपना कल्याण कर सकें। बंगाल के अकाल का स्मरण आते ही रघुवीर शरण मित्र की पंक्तियाँ स्मृति में तिर आती हैं --

लाभ-शुभ लिखकर जमाने
का लहू चूसा जिन्होंने
और कल बंगाल वाली
लाश पर थूका जिन्होंने
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें
धिक्कार माँ की कोख मेरी।

श्री गोपालकृष्ण गोखले कहते हैं : 'बङ्गाल, भारत की आत्मा है, भारत का मन-मस्तिष्क है।' वे कहते हैं : 'बंगाल जो कुछ आज सोचता है, शेष भारत के दिमाग में वह बात कल आयेगी।' बंगाल के ही माध्यम से यह समझा जा सकता है कि उस भारत की आत्मा, उसका मन-मस्तिष्क किस प्रकार क्रमशः निर्वीर्य, श्रीहीन, तेजहत हो गया है। लार्ड कर्जन ने सन् १६०५ में बंगाल का विभाजन प्रस्तावित किया था। उस पर बंगाल के सपूतों ने विप्लव खड़ा कर दिया था। हार कर कर्जन को बंगाल का विभाजन रद्द करना पड़ा। उसी बंगाल को सन् १६४७ में जब अपने ही लोगों ने चीरकर रख दिया, तब वही बंगाल असहाय, निरुपाय, मूक दर्शक बना रहा।

सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के बाद देश के सबसे बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन सन् १६४२ के 'भारत छोड़ो' में चालीस करोड़ की आबादी से लगभग सात लाख लोग जेल गये थे। इनमें वे लोग भी शामिल हैं जो तमाशबीनी में जेल का चक्कर लगा, माफी माँगकर लौट आये थे और उसके ठीक एक वर्ष बाद, एक प्रांत बंगाल में १६४३ के दुर्भिक्ष में तीस लाख लोग तड़प-तड़प कर मर गये, परन्तु किसी ने रोटी का एक टुकड़ा तक छीनने की जुर्रत नहीं की। जिगर

यकबयक याद आते हैं :'इन्सान के होते इन्सान की हालत, देखी तो नहीं जाती, मगर देख रहा हूँ ।'

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने का स्वप्न सर्वप्रथम बंगाल में बंगभाषियों में डॉ० केशव सेन, भूदेव मुखर्जी, शारदाचरण मित्र, रामानन्द चटर्जी ने देखा था। महर्षि दयानन्द को हिन्दी में 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखने का सत् परामर्श बंगाल से ही मिला और वह बंगाल आज हिन्दी का विरोध कर रहा है। यह एक ऐसी विडम्बना है जो समझ से परे है।

आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास—पावस-चर्चा में यह सब क्या कुछ लिखा गया। पर क्या करूँ, यह भीतर के मौसम की झाँकी है, वहाँ क्या घिरता है, वहाँ क्या बरसता है ? यह सारे स्नैप्स हैं, उस भीतर की बरसात के।

पानी जब ऐसा बरसे, ऐसा बरसे कि खुलने का नाम ही न ले, कई-कई दिन तक लगातार सूरज के दर्शन ही न हों, तो उसके निवारण के लिए कुछ टोने-टोटके होते हैं। कभी खोरी में सरसों का तेल डाला जाता, कभी आँगन में मूसल अथवा सिल पर बट्टा खड़ा कर दिया जाता और कभी मुझे याद है, हमारे घर में एक महरिन थी, वह नंगी होकर चूल्हे से लुकाठी निकाल कर आसमान की ओर दिखाती हुई नाचती और गाती :

देव राजा घाम करा, बंदरी सलाम करा।
नाहीं मारब लाठी, चले जावो कासी।
कासी का बेटवा, बड़ा बदमसवा...

और जाने क्या-क्या। संयोग कुछ ऐसा होता कि पानी थम जाता।

मेघ ! तुम आँगन में बरसो, खेतों पर बरसो, बाग-बगीचों में बरसो, नदी-पोखर-ताल-तलैयों पर बरसो, वे जो घर आ गये हैं, घर छोड़कर जाने न पायें' ऐसा जमकर बरसो। वे, जो बाहर हैं, घर आने की मोहलत दो और आ जाने पर टूटकर बरसो। मन-प्राण-देह भीगे, जुड़ाय। बहिना को उसका बीरन मिले, प्रिया को उसका प्रियतम मिले—कुछ जोग-जुगत लगाओ मेरे घनश्याम, मगर कभी उस गोपी से होड़ लेने की गलती मत करना, जिसके श्याम मथुरा सिधारे हों, जिनके बारे में सूरदास बतला रहे हैं : 'निसदिन बरसत नैन हमारे, सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते श्याम सिधारे।' बात मानो, उनसे होड़ मत लेना, हार जाओगे।

तादात्म्य के तन्तु

मेरे सामने कुत्तूलाल अपनी पिछली दो टाँगों पर बैठा है। गहरा भूरा रंग स्वस्थ, खूब भरा हुआ बदन। शिब्बू के चुराये हुए कंचे-सी दो चमकदार नीलो-भूरी पारदर्शी आँखें। रमेश जी सपरिवार बाहर गये हुए हैं। आज तीसरा दिन है, कुत्तूलाल ने खाना-पीना लगभग छोड़ रखा है। उसकी आँखों में एक तलाश, एक बोलता हुआ सवाल है। वह रमेश जी, माया जी, वन्दना, विवेक किसी एक अथवा उन सबका पता-ठिकाना जानना चाहता है। नित्य शाम टहलने की उसकी तलब, आज हुड़क में बदल गयी है। एक अजीब-सी निरुपायता-असहायता है उसकी आँखों में। संवेदना के पंखों पर सवार एक मर्म है जो मेरे भीतर गहरे और गहरे उभरता जा रहा है। मेरे और उसके बीच एक संवाद-सेतु स्थापित होता है। उस संप्रेषण के चलते वह बहुत ही अपना, बड़ा सगा लग रहा है। इसके पहले वह कभी इतना अपना, इतना सगा नहीं लगा।

कभी किसी अमराई में किसी बाल-गोपाल को किसी कोकिल की पंचम की नकल करते देखा-सुना है? उसको, कोकिल को, जैसा कि कहा जाता है, वह नकल से खीझता है, चिढ़ता है, पंचम में खीझ-भरा प्रत्युत्तर देते सुना है? बच्चे का उस पंचम से जुड़ना और जुड़ाना महसूस किया है?

मेरे दृष्टि-पथ पर अवधूत भगवान् दत्तात्रेय का चित्र उभरता है। उनके पीछे एक उजली गाय खड़ी है, अर्द्धनिमीलित नेत्रों से वह भगवान् दत्तात्रेय के सामीप्य को महसूसती हुई अभिव्यक्ति दे रही है। एक तरफ एक काला कुत्ता है, वह भी भगवान् के परिवार का एक दुलारा सदस्य है। उसकी शान और मान भरी मुद्रा देखकर याद आता है—

'हम सगे कूए अली हैं और तो कुछ भी नहीं।
क्यों न हो ऊँचा हमारा रुतबा फिर कितमीर से।'

(अर्थात्, हम तो कुछ भी नहीं हैं, अली की गली के कुत्ते हैं, फिर हमारा रुतबा कितमीर—स्वर्ग के दैवी, दिव्य कुत्ते—से ऊँचा क्यों न हो।) एक कुत्ता था जिसे राम के दरबार में ब्राह्मण के विरुद्ध न्याय मिला था, जिसने मठाधीशी

के कच्चे-चिट्ठे उजागर किये थे। एक और था, वह भी तो आखिर कुत्ता ही था जिसके बिना धर्मराज युधिष्ठिर ने स्वर्ग जाने से इन्कार कर दिया था। भगवान् दत्तात्रेय का एक और कबूतर है। कपोत, शान्ति का धवल प्रतीक, मूर्तिमयी निरीहता। कपोत, जिसका मूल्य उशीनर शिवि जानता है, राजा मेघ-रथ जानता है जो बाज को कबूतर के एवज में, उसके बराबर का अपना मांस काट-काटकर देता है।

सघन तादात्म्य संवेदन का एक और रंग उभरता है। क्रौञ्चयुग्म मिथुनरत हैं। आनन्द की परिणति होने के पूर्व ही, बहेलिये का शर मूर्त आनन्द को वेध जाता है। मादा क्रौञ्च के विलाप में आदिकवि के आँसू भी शामिल हो जाते हैं और इस प्रकार सृष्टि की आदि कविता अवतरित होती है।

आज तो हमारा संवेदन गोठिल हो चुका है। राम जाने, कैसे लोग यज्ञों में निरीह पशुओं की बलि देते रहे, भवानी को भैंसा अथवा बकरी की बलि देते रहे हैं। लगता है, वे संस्कार लुप्त नहीं हुए हैं, उनकी सन्तानें आज भी सौन्दर्य-प्रसाधनों (कास्मेटिक्स) के निर्माण में खरगोशों की निरीह आँखों पर प्रयोग करती हैं, उन्हें अन्धा बना देती हैं। उफ, यह तथाकथित सौन्दर्य और इसकी असुन्दर-कुरूप घिनौनी साधना। बछड़े की खाल उसके जीते-जी उतार ली जाती है और 'काफ लेदर' के सामान बनाये जाते हैं। हिरन का सिर कटवाकर ड्राइंग-रूम सजाते हैं। भारी-भरकम मछली, स्वस्थ बकरे अथवा मुर्गों को देखकर उनकी लुब्धक दृष्टि में स्वाद की विकृति का नरक ताण्डव करने लगता है। अब तो खरगोशों, चूहों का भी मांस बचने नहीं पायेगा। आखेट में शर संधान कर किंवा रायफल लेकर हिरन के पीछे पड़ने में जाने कौन-सी विकृति को तृप्ति मिलती है। पता नहीं कब, किस आखेट में, हमारे भीतर के पशु का अहेर होगा, जाने कब हमारी पाशविकता स्वयं शिकार बन जायगी। राम करे, वह घड़ी जल्दी ही आये। स्वार्थ-प्रेरित आत्मकेन्द्रित आदमी 'पुच्छ-विषाणहीन' पशु हो चला है और पुच्छ-विषाणसहित पशु भी कितनी आत्मीय, मानवीय ऋजुता से सम्पन्न है।

दृश्य-पर-दृश्य उभरते चले आ रहे हैं, आँखें हैं कि अघाती नहीं। अघाएँ भी कैसे ? यह सब कुछ तो राम-चर्चा है। 'राम कथा जो सुनत अघाहीं। रस बिशेष जाना तिन नाहीं।' शिशु राम की चिबुक पर लार बह आयी है। काक-भुशुण्डि कौआ उनकी चिबुक से चोंच लगाकर लार पान कर रहा है। राम मगन हैं। राम जटायु को अंक में सहेजे हुए हैं। वे अपनी जटा से जटायु के तन की धूल झाड़-पोंछ रहे हैं। राम की हथेली पर नन्हीं-सी गिलहरी है। राम

उसकी पीठ स्नेह और वात्सल्य से सहला रहे हैं। राम के राज्याभिषेक के बाद की कोई शाम है। दिव्य दम्पति राम और सीता बतरस में रत हैं। सीता कहती हैं, "यदि आप अन्यथा न लें, तो एक बात पूछूँ?" "हाँ-हाँ, वैदेही निःसंकोच पूछो।" राम ने आश्वस्त किया। "कंचन-मृग के पीछे जब आप काल-रूप में धावन कर रहे थे, तब क्या भीत नजरों से पीछे मुड़कर मृग ने आपको देखा था? आप तो मुझे भीरु मृगनयनी कहते हैं, क्या उस समय आपको मेरी सुधि आयी थी? यदि हाँ, तो आपका वाण भीत मृग-नेत्रों पर कैसे चल सका? यद्यपि मैंने ही उस कंचन-मृग की कामना की थी, तथापि...।" सीता के इस प्रश्न पर राम चुप रह गये, वे क्षितिज को ओर डबडबायी आँखों से देखते रहे।

दृश्य बदलता है। भगवान् दत्तात्रेय की पूर्वकथित छवि का एक सर्वथा नवीन संस्करण सामने प्रस्तुत है। वेणुवादक कृष्ण के पीछे खड़ी अधमुँदे नेत्रों से वेणुरस का पान करती, उनकी दाहिनी एड़ी को चाटती एक धवल धेनु। रसखान कामना करते हैं, "**जो पसु हौं तो कहा बास मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझा-रन।**" यह घायल जटायु गीध नहीं, यह घायल हंस है। यह साकेत के वनवासी राजकुमार का अंक नहीं, यह कपिलवस्तु के राजकुमार का अंक है। हाँ, हमने ठीक ही पहचाना है। यह राम नहीं, सिद्धार्थ हैं। परन्तु, सिद्धार्थ की यह छवि देखकर राम की उपर्युक्त छवि की याद आना क्या नितान्त स्वाभाविक नहीं है? ईसा की वत्सल बाँहों में मेमना अथवा गांधी का अनुधावन करती बकरी की-सी भावुक मन को संवेदनप्रवण बनाने के लिए क्या पर्याप्त नहीं है?

येरुशलम के मंदिर के मुख्य द्वार पर ही एक कुत्ता मरा पड़ा है। उसका मुँह खुला हुआ है, उसके मोतियों-से दाँत चमक रहे हैं। नाक पर रूमाल रखे हुए पुजारी आया, उसने कुत्ते को गालिया दीं। कोई तथाकथित भक्त आया, उसने कुत्ते को गालियाँ दीं, उसके शव पर डंडे बरसाये। हर कोई, जो भी आता, दुर्गन्ध की शिकायत करता, गालियाँ देता और डंडे बरसाता। मरियम का बेटा आया, वह घुटने टेककर उस पर झुक गया, "लोगों ने तेरी दुर्गन्ध महसूस की, तुझे गालियाँ दीं, तुझ पर डण्डे बरसाये, पर किसी ने तेरे मोतियों-जैसे चमकते दाँत नहीं देखे।" और उसका खुला हुआ मुख चूम लिया। भरी आँखों उसे उठाया और आहिस्ते-से उसे दफन कर दिया।

छत्रपति शिवाजी की समाधि के पड़ोस में एक और समाधि है जो उनके प्यारे कुत्ते की समाधि है जिसने स्वयं को स्वामी की चिता पर समर्पित कर दिया था। गुरु गोविन्दसिंह की बाजधारी छवि क्या भुलायी जा सकती है? बंदा बैरागी की प्यारी बिल्ली तो उसके साथ ही बलिदान हुई थी।

सिनेमा की रील जैसे आगे बढ़ती है। एक नन्हा-सा बच्चा कुतूहलवश, घोंसले से चिड़िया का अण्डा निकाल लाया था। उम्मीद थी कि माँ को दिखलाऊँगा, उसकी आँखें चमक उठेंगी और वह खिल उठेगी। परन्तु, हुआ ठीक इसके विपरीत। माँ उदास और दुःखी हो गयी, "तुझे स्कूल से लौटने में जरा-सी भी देर होती है, तो मैं कितनी परेशान हो जाती हूँ। तू जब भी घर लौटता है, तब मुझे दरवाजे पर ही, तेरे रास्ते की ओर देखती, इंतजार करती पाता है। उस चिड़िया को जब वापस लौटने पर अपने घोंसले में उसका अपना अण्डा न मिलेगा, वह कितनी दुःखी होगी।" बच्चा तुरन्त पलट पड़ा, देखा, घोंसले से अलग एक शाख पर बैठी चिड़िया चीख रही है, उसने घोंसले में उसका अण्डा वापस रख दिया। हजार चिरौरी की, विनती की, अनुनय-विनय किया, हाथ जोड़ा, गिड़गिड़ाया, देख तेरा अण्डा तेरे घोंसले में वापस आ गया है। जा अपने अण्डे को देख और खुश हो जा, मुझ पर मेहरबानी कर मुझे माफ कर दे। चिड़िया ने पलटकर घोंसले को नहीं देखा, वह बराबर चीखती रही और बच्चे को अपने जीवन का सबक मिला। जीव-दया और अहिंसा का वह पाठ, चिड़िया की वह नाराजगी, वह जीवन-पर्यन्त भूल नहीं पाया। वह बच्चा ही विश्व में दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज के नाम से जाना गया।

कुतूलाल की आँखों में पन्ने-दर-पन्ने खुलते जा रहे हैं। सुप्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग, उसके मित्र मेढक, साँप, छिपकली, गिड़गिड़ान और जाने क्या-क्या। महादेवी वर्मा, उनके परिवार के सदस्य गिल्लू गिलहरी का बच्चा, खरगोश, नीलकण्ठ, मयूर, हिरन, नीलगाय, बिल्लियाँ और कुत्ते। साक्षात् पशुपतिनाथ महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री, निराला निकेतन, मुज्जफरपुर में एकल कुत्ते और बिल्लियाँ। हर किसी का अपना नाम, अंजू, मंजू, नंदा, महेन्द्र और जाने क्या-क्या।

मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग ही क्या, वानस्पतिक जगत् भी एक जीवन्त स्पन्दन का सबूत देते हैं। कबीर ने पुत्र कमाल को भेजा गौशाले के लिए घास काट लाने के लिए। बहुत ही विलम्ब हो गया। कबीर गये। देखते क्या हैं, सर तक बराबर घास में खड़े कमाल हवा में लहराती घास के साथ झूम रहे हैं। पूछने पर कमाल कहते हैं, "पिताजी, इस तरह जीती-जागती, झूमती-नाचती घास को काटने का कलेजा कहाँ से लायें ?" कबीर क्या कहते।

रामकृष्ण परमहंस खड़ी हरी फसल को बड़े छोह से निहार रहे थे। अकस्मात् एक व्यक्ति उन फसलों को रौंदता हुआ निकल गया। ठाकुर कलेजा थामकर हाय-हाय करते लुढ़क गये, लगा जैसे वह फसल को नहीं, उनके कलेजे

को रौंदता हुआ निकल गया हो। तादात्म्य के, आत्मीयता के कैसे तन्तु रहे होंगे वे !

कुछ क्षणों के लिए ही सही, तादात्म्य के जिन अनेकानेक क्षितिजों का साक्षात्कार कुत्तूलाल के माध्यम से हुआ है, वैसे एक के बाद दूसरी यवनिकाएँ उठती जा रही हैं, उसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सोचता हूँ, क्या कोई ऐसी भावभूमि मेरे नसीब में भी होगी ? क्या यह क्षणिक बोध कभी स्थायी भाव नहीं हो सकता ?

●

बच्चा कितना प्यारा है

प्रलयंकर शिव का संहार-ताण्डव हो रहा है। मेरी कल्पना में एक महा-भयानक जलार्णव उतर आया है जिसने सम्पूर्ण धरती को अपना ग्रास बना लिया है। महाप्रलय की पर्वताकार वर्तुल प्रलम्ब लहरों पर एक अरुणाभ-नवांकुरित वटपत्र दीख पड़ता है। उस एक वटपत्र की सुकुमार सेज पर नीलमणि बाल-मुकुन्द, पाँव का अँगूठा चूसते, हिंडोला झूल रहे हैं। चिरंजीव महर्षि मार्कण्डेय उनकी स्तुति कर रहे हैं—

करारविन्देन् पदारविन्दं,
मुखारविन्दे, विनिवेशयन्तं।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं,
बालंमुकुन्दं, शिरसा नमामि॥

सर्वनाश की भैरव-भेरी पर यह सर्जन की, निर्माण की बाँसुरी, महामृत्यु की अवज्ञा करता यह जीवन-राग, शिशु के नवनीत कलेवर में परमात्मा! परात्पर प्रभु शिशु राम हों या भगवान् कृष्ण, कभी-कभी मिट्टी खा लेने के बहाने, कभी हँसी-हँसी में अपने मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन देते हैं। क्या अकारण ही? इसका कोई अर्थ नहीं होता? सदाशिव को भी सद्योजात कहा गया है, सद्योजात अथवा जनमतुआ। वह सद्योजात तो है, उसका तिरोभाव अथवा तिरोधान नहीं है। कैसा अद्भुत योग है, वट की छाँव में महामृत्यु ने सत्यवान के प्राण हरे थे। सावित्री के सत्याग्रह किंवा प्रेमाग्रह के सामने महाकाल भी करुणाविगलित हुआ। सावित्री मृत्यु से जीवन जीत लायी। फिर उसी वटपत्र की शय्या पर सर्वनाश को चुनौती देता, परमात्मा शिशु रूप में प्रस्तुत हुआ है। यह शिशु रूप परमात्मा का वरेण्य रूप है जो हमारे देश में सर्वाधिक उपेक्षित है।

एक सीधा-सादा भक्त अपनी सीधी-सादी आस्था निवेदित कर रहा था, "गीता तो गंगा है, उसमें जितना निमज्जन करोगे, जितना अवगाहन करोगे, उतना ही आनन्द मिलेगा।" एक उद्भट प्रकाण्ड तार्किक, जो मेरे गुरुप्रवर भी हैं, के ज्ञान-अहंकार ने सर उठाया, उन्होंने आपत्ति कर दी, "यह आप क्या

कह रहे हैं ? गीता तो भगवान् का अधरामृत है, और गंगा ? वह तो विष्णुपदी अर्थात् भगवान् का चरणामृत अथवा चरणोदक है। यह दोनों अधरामृत और चरणामृत एक कैसे हो सकते हैं ? गीता तो गंगा हो ही नहीं सकती।" बेचारा भक्त हतप्रभ रह गया।

मैंने गुरुप्रवर से विनयपूर्वक पूछा, "वटपत्र पर पाँव का अँगूठा चूसते भगवान् बालमुकुन्द की इस मुद्रा में चरणामृत और अधरामृत में आप अन्तर कैसे करेंगे ? गुरुवर वहाँ तो कर, मुख, पद सब कुछ अरविन्द हैं।

'नव कंज लोचन कंज मुख,
कर कंज, पद कंजारुणं।'

जहाँ सब कुछ कंज है, वहाँ यह अन्तर कैसे रेखांकित करेंगे गुरुवर ? यह शैशव है जहाँ विभाजक भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। अधरामृत चरणामृत तो क्या, बालक हजरत मूसा हीरे और अंगार के भेद को झुठला देते हैं।

मेरे परम मित्र डॉ० रवीन्द्र भ्रमर की पंक्तियाँ मन-प्राण को आलोकित कर रही हैं—

बच्चा कितना प्यारा है
जैसे कि हमारा है
तुलसी के प्रभु जैसी ठुमक ठुमक चाल,
सूरा के प्रभु जैसे धूल भरे बाल
नेनू का सँवारा है
जैसे कि हमारा है
बच्चा कितना प्यारा है।

तथापि स्वयं को धर्मप्रधान कहने वाला देश परमात्मा-स्वरूप बालक की ओर से सर्वाधिक उदासीन है। डॉ० विपिन अग्रवाल कहते हैं कि हम अपने चित्र में बुद्ध के ओठों की करुणा एवं शान्ति अंकित करने के लिए लगे रहे, मगर सामने आनन्द-शान्ति का मूर्त रूप बच्चा किलकारियाँ भरता रहा और हम उसकी उपेक्षा करते रहे। यह है हमारी सौन्दर्य-चेतना, कला-चेतना और परि-वेशगत चेतना।

कभी किसी गोलमटोल गदबदे बच्चे को बाँह में भरकर मसोसा है ? उसकी देह की दुधाइन गन्ध को नासापुटों से प्राणों में उतरने दिया है ? आधुनिक माताएँ जब शिशु को स्तनपान ही नहीं करायेंगी, तो शिशु-देह में दुधाइन गन्ध

आयेगी कहाँ से? हाँ, तो उसे गुदगुदा कर खिलखिलाते, किलकारी भरते बच्चे को आकाश की ओर कभी उछाला है? उछाल कर फिर कभी बाँहों में रोका है? यदि नहीं, तो कभी पूरे मनोयोग से रीझकर उसे उछालो और रोको। तुम्हें लगेगा कि तुम्हारी ही ऊर्ध्वोन्मुखी प्रार्थना, टेर, आशीर्वाद, अनुग्रह, कृपा के रूप में तुम्हारी बाँहों में अवतरित हो रही है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं, "जब भी कोई नया शिशु जन्म लेता है तो मुझे लगता है, परमात्मा अभी अपनी सृष्टि से निराश नहीं हुआ है।" भाई निदा फाजली के शब्दों में,

घास पर खेलता है एक बच्चा,
माँ दूर बैठी मुसकराती है।
मुझको हैरत है जाने क्यों,
दुनिया काबा ओ सोमनाथ जाती है।

ऐसा भी क्या है कि जब भी कल्प-कल्पान्तर में रामावतार होता है, काग-भुशुण्डि केवल उनकी बालछवि की उपासना के लिए उनके निकट होते हैं और फिर अपनी राह ले लेते हैं। माता अनुसूया त्रिदेवों को निष्पापदृष्टि बनाने के लिए उन्हें बालरूप में परिवर्तित कर देती हैं और तब उन्हें स्तनपान कराती हैं। विश्व का अद्वितीय प्रतिनायक रावण बालक राम का अपहरण करने आता है। न रहेगा बाँस, न बाजेगी बाँसुरी। वह काल को भी अकाल काल-कवलित करने के ध्येय से आता है। परन्तु, शिशु राम की रूपमाधुरी पर वह इस प्रकार मुग्ध होता है कि लौटते हुए घोषित करता है, 'यह बालक मेरा काल हो तो हो, पर मैं इसे रुला नहीं सकता।' भगवान् शंकर, बाल कृष्ण की एक झलक पाने के लिए माता यशोदा की चिरौरी-खुशामद करते हैं और माता यशोदा बार-बार उन्हें परे होने को कहती हैं।

पोलैण्ड के स्वाधीनता-संग्राम की अलख जगाता चल विश्वविद्यालय चलाया जा रहा है। क्षयरोग का आक्रमण भी हो चुका है। तब क्षयरोग एकदम असाध्य होता था। विज्ञान का कठिन शोध-अनुसन्धान-गवेषणा का कार्य भी चल रहा है। इतनी व्यस्तताओं के बीच भी वत्सला मैडम क्यूरी बिटिया आमरीन के लिए इतना समय निकाल लेती हैं कि वह उसकी पहली दँतुली निकलने से पन्द्रह दाँत निकलने तक का विवरण अपनी डायरी में नोट करती हैं।

महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन भी शिशु-सुलभ सरलता पर ठगे, बिके, रीझे हैं। वे पड़ोस की एक नन्हीं बिटिया को पढ़ाते हैं। उसकी माँ संकोचवश कहती है, "प्रोफेसर, इसके कारण आपके अध्ययन में बाधा पड़ती है।" प्रोफेसर

हँसकर उत्तर देते हैं, "तुम नहीं जानती, पढ़ाई के बदले मैं इससे चाकलेट माँग कर खाता हूँ। चाकलेट मुझे बहुत पसन्द है।"

महाप्रभु वल्लभाचार्य अपने बच्चों की बाल कृष्ण के रूप में उपासना करते हैं। वे तदनुरूप प्रसाद भी पाते हैं। मुझे भली-भाँति याद है। मैं नन्हा-सा था, मेरे पड़ोस में एक महाराष्ट्रीय निःसन्तान दम्पति रहते थे। उन्हें किसी महात्मा ने बतलाया था—अस्तु, पीढ़े पर बेलपत्र बिछाकर विधिवत् बाल शंकर के रूप में मुझे स्थापित कर वे दोनों मेरी पूजा करते थे। धूप, दीप, नैवेद्य अर्पित कर वे मेरे सामने नृत्य करते थे। पर आज क्या ज्ञात है, सारी झार मँगरैल पर ही जाती है। हमारी सारी खीझ, सारी झुँझलाहट का खामियाजा घर के बालक को ही भुगतना पड़ता है।

आकाशवाणी (आल इण्डिया रेडियो नहीं) द्वारा जब कंस को यह मालूम होता है कि देवकी का आठवाँ पुत्र उसका काल होगा तो उसने देवकी के हर बच्चे की हत्या करने का संकल्प लिया। आठवाँ बच्चा जब हाथ न लगा तो उसने मथुरा में नवजात शिशुओं का कत्लेआम कराया। देवासुर-संग्राम में पराजित होने के बाद जब हिरण्यकशिपु ने तपस्या प्रारम्भ की, देवराज इन्द्र ने असुर शिशुओं की बर्बरतापूर्वक हत्या की और करायी। इन्द्र तो भ्रूण-हत्या करने से भी बाज नहीं आया। यही सब कुछ प्रकारान्तर हजरत मूसा के संदर्भ में फिरऔन द्वारा दुहराया गया था। हजरत मूसा के जन्म के पूर्व और पश्चात् नवजात शिशु मौत के घाट उतार गये। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार जब जन्म के उपरान्त जीसस बेतलहम में नहीं मिले तो हेरोद ने नवजात कितने ही शिशुओं का कत्लेआम कराया। कोई दंगा हो कोई फसाद हो, कुछ हो, बच्चों के मत्थे ही जाता है। आखिर कब तक मानव जाति फरिश्तों के कत्लेआम का पातक भोगती रहेगी ?

शब्दकोश ही रट डालने वाला दृढ़ संकल्प-शक्ति का बच्चा विश्वविख्यात कथाकार मोपांसा होता है। किसी कमजोर बच्चे की पिटाई में उसे बचाने की गरज से, उसे पड़ने वाली मार में हौसले से हिस्सा लेने वाला बच्चा, बायरन होता है। परम बुद्धू बच्चा अपनी लगन के चलते विश्व का महानतम वैयाकरण पाणिनि होता है। बीज की संभावनाओं का सही-सही मूल्यांकन करना आखिर हम कब तक सीख पायेंगे ? बच्चा मानव जाति का भविष्य है, यह हम कब तक महसूस करेंगे ? क्या हम बराबर भविष्य-हन्ता ही बने रहेंगे ?

'गांधी दि वर्ल्ड सिटिजन' में कुमारी म्यूरिल लीस्टर बतलाती हैं—बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में सोवियत रूस तो स्वर्ग है। विश्व-भ्रमण कर, विश्व के सभी देशों में बच्चों की स्थिति का विवेचन करने के बाद, कुमारी म्यूरिल लीस्टर

इस नतीजे पर पहुँची थीं। और हमारी शिक्षा-पद्धति ? हे प्रभु, ऐसी अमानवीय है कि क्या कहा जाय। कहीं किसी आयोजन में एक कविता सुनी थी, पंक्तियाँ लगभग ऐसी हैं—

पिता, तुम मेरे पिता नहीं हो क्या ?
माँ, तुम मेरी माँ नहीं हो क्या ?
गुरु, तुम मेरे गुरु नहीं हो क्या ?
तुम सबको मुझ पर दया नहीं आती;
देखते हो मेरी हालत खस्ता,
पाँच किलो का मैं, दस किलो का बस्ता ?

रंग-बिरंगी फुलवारी-सी यूनीफार्म में सजे, स्वस्थ, किलकते, खिलखिलाते, आनन्द के फव्वारे से बच्चे किसे अच्छे नहीं लगते। यदि ऐसा कोई है जिसे ये बच्चे अच्छे नहीं लगते तो समझो उसके मन में कोई खोट अवश्य है। पर क्या हमने रोज-रोज शिशु-अपहरण जैसी घटनाओं पर भी ध्यान दिया है। शिशु खरीदे-बेचे जाते हैं। शिशुओं को क्रूरतापूर्वक लँगड़ा, लूला, अन्धा बनाया जाता है, उनसे भीख मँगवायी जाती है। स्टेशन के प्लेटफार्म हों, सिनेमा के दरवाजे हों, होटल-रेस्त्रां के द्वार हों, एक जोड़ा नन्हीं-मुन्नी हथेलियाँ हजार-हजार होकर हमारे सामने फैल जाती हैं। टाफी और खिलौनों वाली नरम मुलायम गदोरियों में अलमुनियम का पिचका हुआ कटोरा होता है, कापी और किताब वाले हाथों में कुसंग की बीड़ी होती है जो कालान्तर में छूरे, पिस्तौल और बम में तब्दील हो जाती है। औपचारिक रूप से बाल दिवस, बालवर्ष मनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेने वालो, आखिर इसका निदान क्या है ?

हम अपराध और पातक की सीमा तक बच्चे की उपेक्षा करते हैं। गान्धारी को सम्बोधित कर श्रीमती शान्ति मेहरोत्रा कहती हैं—पति नेत्रहीन थे, गान्धारी तुमने आँखें रहते उन पर पट्टी चढ़ा ली। तुम नेत्रहीन ही नहीं, दृष्टिहीन भी हो गयीं। क्या जाने पातिव्रत का तकाजा भी पूरा हुआ या नहीं। किन्तु, क्या कभी तुमने यह भी सोचा कि मात्र एक वत्सल दृष्टि के अभाव में सुयोधन दुर्योधन हो गया।

ममतामयी डॉ० माण्टेसरी प्रार्थना करती हैं—'प्रभो ! बालजीवन के रहस्यों को समझने में हमारी सहायता करो, ताकि हम बालक के स्वरूप को जान सकें, उसे प्यार कर सकें और तुम्हारे नीति-नियमों के अनुसार, तुम्हारे दिव्य भव्य संकल्पों के अनुकूल उसकी सेवा कर सकें।' माण्टेसरी की इसी प्रार्थना के साथ, मैं अपनी बात यहीं स्थगित करता हूँ।

अँधेरे के विरुद्ध कुछ शब्द

मेरे सामने एक दिया है जिसने केवल दिया है, जो केवल दाता है, दानी हैं, मँगता अथवा याचक नहीं। यही मिट्टी के दिये का गौरव है। "देने को टुकड़ा भला, लेने को हरिनाम।" यह दिया नन्हा-सा आलोक-वामन है जो न केवल तिमिर-बलि को बाँध लेगा, वरन् अपने नन्हें-नन्हें पाँवों से सम्पूर्ण आकाश को माप लेगा। इसके ही चरण का धोवन विधाता अपने कमण्डल में सँभाल कर सहेज लेगा जो कभी किसी को भगीरथ साधना से ज्योति-जाह्नवी बनकर धरा पर अवतरित होगी।

मेरे सामने ही एक दिया है। जब सूरज डूब जाता है, परमुखापेक्षी चाँद का पता नहीं होता, तुमुल-तिमिर की चुनौती को स्वीकारता हुआ, यह दिया, सूर्य की विरासत का ज्वलंत राहगीर होता है। मेरे सामने का यह दिया बच्चन का गीत गुनगुनाता है—

"मिट्टी का तन
मस्ती का मन
क्षण भर जीवन
मेरा परिचय।"

इसके मटियारे क्षितिज पर एक अदद निष्कम्प ज्योति-शिखा है। निष्कम्प है, इसलिए तपस्यारत पार्वती मालूम होती है। एक पाँव पर खड़ी, प्रिय का अलख जगाती निष्कम्प अपर्णा। निष्कम्प है, इसलिए वह कृष्ण की कनिष्ठिका अँगुली मालूम होती है जिस पर पर्वत टिक गया है। आलोक कनिष्ठिका पर टिका तमतोम का पर्वत गोवर्धन। निष्कम्प है, इसलिए श्यामल-वपु अन्धकार विष्णु के मस्तक पर केशर तिलक-सी लगती है। गुलाब की एक हलकी-फुलकी रक्ताभ कली। अभी हौले से हवा चली और वह तिमिर-वृंत पर थिरक उठी। फिर जाने क्या हुआ, किस अभागे ने क्या कर दिया कि बयार आँधी में बदल गयी और ज्योति-विहग पंख फड़फड़ाने लगा। लौ थरथरा उठी। परन्तु वह तो लौ है, लौ लगने भर की देर है। जिससे लौ लगती है, वह हाथ थाम लेता है और धराशायी होती लौ फिर खड़ी हो जाती है। भरोसा तो है, परन्तु क्या करूँ अपनी दुर्बलता

का जिसके चलते, मन है कि आशंकाओं में घिरा उठता है कि दिया अब बुझा; तब बुझा—

> "सबै सहायक सबल के निरबल कोउ न सहाय ।
> पवन जगावत आगि को दीपहि देत बुझाय ।।"

बड़ा घना अँधेरा है ।

यह दिया है, इसकी अद्भुत यात्रा मेरे कल्पना-पथ पर तिर आती है । सवाल यह है कि आखिर यह दिया आया कहाँ से ? मिट्टी, पददलिता मिट्टी भीगती है, भिगोयी जाती है । सानी जाती है, माड़ी जाती है, कंकड़ बीने जाते हैं, चिकनाई जाती है, चाक पर चढ़ाई जाती है और सधे हुए हाथों से आकार ग्रहण करती है । वह सधा हुआ हाथ मिट्टी के हाथों अभिशप्त होता है—

> "माटी कहे कुम्हार सों, तू क्या रूँधे मोय ।
> इक दिन ऐसा आयेगा, मैं रूँधूँगी तोय ।।"

तथापि वह सधा हुआ हाथ मिट्टी का प्रजापति होता है । मिट्टी का वह आकार धूप में सूखता है, फिर आवाँ में तपाया जाता है, बिल्कुल धरती की, मिट्टी की बेटी सीता की अग्नि-परीक्षा की तरह । इतनी तपस्या के उपरान्त वह दिये की पात्रता हासिल करता है । दिये का पात्र तेल अथवा स्नेह से आकण्ठ उमड़ता आता है । उसके स्नेहमय अन्तर में उजले कपास की एक वर्तिका उतरती है । एक उजलापन पोर-पोर स्नेह में भीगता है । फिर एक मुहूर्त, एक पुनीत साइत होती है जब कोई शलाका-वर्तिका के स्नेहिल ओंठ पर एक दाहक अग्नि-चुम्बन रोप देती है । दिये के गैरिक क्षितिज पर एक नक्षत्र टिमटिमा उठता है । दीपोदय होता है, अन्धकार में पौ फटने की प्रस्तावना अभिनीत होती है । नरम-नरम नैनू-सी रोशनी की एक मद्धिम धूप घर-आँगन में बिखर जाती है ।

दीपमालिका है, दीपावलि है, अनेक दिये जगमगा रहे हैं । एक-एक दिये के पीछे मिट्टी की लम्बी तपस्या-यात्रा है । फिर इत्ते दिये, फिर इत्ते ढेर सारे दिये ! कितनी तपस्या है इनके होने में । और हम उस तप को अनदेखा कर जाते हैं । दिये का स्नेह चुकता है, उसे स्नेह की जरूरत है, उसे उजली बाती की जरूरत है । कहाँ से लायें हम निर्व्याज स्नेह, निश्छल धवल उजलापन ? उसके लिए न हमारे पास स्नेह है और न उजलापन स्नेह—रिक्त दिया घूरे पर डाल दिया जाता है । स्नेह-रिक्त, सूनी आँखों जैसे कचरे पर पड़े अनेक दिये । कितने कृतघ्न हैं हम ! कृतघ्नता से बड़ा अन्धकार तो कोई नहीं होता ।

सूर्य तो आलोक-पुंज है, आलोक का आढ़तिया । चाँद उसमें ही रोशनी उधार लेता है और ऊँचे ब्याज-दर पर अपना धन्धा चलाता है । सितारे उसके ही

बलबूते पर टिमटिमाते हैं। परन्तु सूर्य का उत्तराधिकारी दिया, सूर्य से आलोक की याचना नहीं करता। अपने भीतर के स्नेह को तिल-तिल जलाता है। स्वयं को क्रमशः होम करता है, भले ही होम करते हाथ जले, परन्तु कभी स्वयं को हवन करने के व्रत से बाज नहीं आता। अपने प्राणों की ऊष्मा से, ताप से अपने ओठों पर एक विभा-कुसुम उगा लेता है। वह याचना के लिए भिक्षापात्र सूर्य के सामने नहीं करता। यह है सूक्ष्म का, विराट् स्वाभिमान। बड़ा घना अँधेरा है। अँधेरा एकदम घुप, हाथ को हाथ नहीं सूझता। ऐसे में उलूकों का, चमगादड़ों का बाजार गरम हो जाये तो आश्चर्य कैसा !

कैसा दुर्योग है अमावस्या। तिमिर का ऐसा षड्यंत्र कि भरी दोपहरी में सूरज दिनदहाड़े तोड़ दिया जाता है। डंके की चोट पर यह गुनाह किया जाता है। अपने अनन्त स्नेह से जो न केवल स्वयं जगमग था, वरन् अपनी जगमगाहट से विश्व को आलोकित करता था, ऐसा सूर्य, ऐसा वर्धमान, ऐसा महावीर अमावस्या के दिन ही अस्त हो गया। वह तो किसी आलोक का मोहताज न था। अँधेरा सघन से सघनतर होता जा रहा है।

तिमिर का विषपान कर जीना ही जिसका धर्म और स्वभाव था, है, और रहेगा। ऐसा प्रदीप्त दिया, ऐसा मूलशंकर, ऐसा कालकूट-पायी महर्षि दयानन्द षड्यंत्रों का गरलपान कर अमावस्या के दिन ही निर्वाण को उपलब्ध हुआ। अँधेरा घटाटोप हुआ जाता है।

अनन्त असीम प्रेम——स्नेह का पारावार था वह बादशाह राम, जो अपने में सरमद था, मंसूर था। अनलहक़, शिवोऽहं, अहं ब्रह्मास्मि का जयघोष था स्वामी रामतीर्थ। इसी दीपावलि ने उसके ज्योतिर्मय प्राणों को बुझा दिया था। अँधेरा बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है।

अमावस्या की सघन काल रात्रि, महाकाली की कृपा जाग्रत करने, पाने का पुनीत-पावन मुहूर्त। तंत्र, मंत्र, सिद्धि का आग्रह। मैं, माँ की कृपा, उसके अनुग्रह, उसकी अनुकम्पा की बात तो समझता हूँ। माँ की अनुकूलता प्राप्त करने की बात भी समझ सकता हूँ। किन्तु माँ की सिद्धि, माँ को सिद्ध करने की बात मुझे न केवल अजीब लगती है, वरन् विकर्षक भी प्रतीत होती है।

यह दीपमाला है, दीपावलि, दीवाली, यह अकेली क्यों आयेगी ? यह आती है पर्व-स्तवक लेकर। यह आती है पर्व-पंचायतन का प्रसाद लेकर।

यह धन्वन्तरि जयन्ती है। अमृत का आविर्भाव-मुहूर्त। भगवान् शंकर ने हलाहल स्वीकार किया, अमृत का पथ प्रशस्त हुआ। कालकूट की स्वीकृति ही पीयूष-पथ प्रशस्त करती है। ऐसा पुनीत पर्व हमारे हाथों में आकर विकृत हो

गया। धनतेरस, अर्थात् धन-ते-रस, अर्थात् सारा रस धन का ही मुखापेक्षी है। जितना हम आत्म-केन्द्रित होते गये, ओछे होते गये। हम धन का नहीं, धन हमारा उपभोग करने लगा। हम भारतेन्दु की तरह खम ठोंक कर यह घोषित नहीं कर पाये कि जिस धन ने मेरे पुरखों को खा लिया है, मैं उसे खा जाऊँगा। अमृत का उदय-पर्व धन-ते-रस होकर रह गया। सचमुच कितना घना अँधेरा है।

हनुमान्-जयन्ती। सेवा, निष्ठा, त्याग और आस्था के पर्याय का नाम है हनुमान्। आज भी अनेक हैं जो हनुमान् होने का दावा तो करते हैं, लेकिन अपने राम को आग्रहपूर्वक ताड़का के चरणों पर डाल आते हैं और उस बेहयाई को रणनीति बतलाते हैं। क्या यह अँधेरा सर्पकुण्डली की ही तरह देश की छाती पर जमा रहेगा?

कृष्ण लोकनायक थे। प्रिया सत्यभामा के पुत्र आततायी भाम का वध स्वयं अपने ही हाथों, उस पिता ने किया था। लोक उसे घृणावश नरकासुर कहता था, यह नरक चतुर्दशी है। आततायी—अन्यायी बेटे को भी दण्ड देना लोक-नायक अपना कर्तव्य समझता है और उसे अंजाम देता है। परन्तु आज के लोकनायक, लोकबन्धु राजनेताओं में होड़ है अपने नालायक बेटों को लोक की छाती पर जमाये रखने की।

इस अँधेरे में लोक का दम घुट रहा है।

निश्चय विनाश के उपरान्त, अयोध्या लौटने के लिए इतनी काली रात का ही लग्न क्यों निकाला गया, मुझे नहीं मालूम, पर इतना भरोसा जरूर है—

"रात जितनी ही संगीन होगी
सुबह उतनी ही रंगीन होगी।"

यह अन्नकूट है। आकाश स्वर्ग के अधिराज इन्द्र के दर्पोन्नत मस्तक पर पद प्रहार कर अपनी सत्ता स्थापित करने वाले लोकनायक यादव युवक के जय का पर्व। परलोक पर इहलोक की विजय, अलौकिक पर लौकिक की जय का मांगलिक मुहूर्त। पर आज लोक का, जन का दावा करने वाला दल, विदेश की राजधानियों के निदेशों का मोहताज है। उफ, इतना गहरा अँधेरा। कहीं कोई निष्कृति नहीं।

कभी यम की सत्ता को नचिकेता ने चुनौती दी थी। कभी सत्यवान के संदर्भ में सावित्री ने, कभी प्रमद्वरा के प्रसंग में रुरु ने, कभी पर्सिफोन के संदर्भ में आरफियस ने, परन्तु हर भाई के जीवन के लिए मृत्यु को, यम को चुनौती देता है हर बहन का ऐपनतिलक और उसका पर्व है यम द्वितीया। अमृत-

आविर्भाव से प्रारम्भ होने वाला पर्व-प्रसंग, यम पर, मृत्यु पर, बहन की मांगलिक विजय के साथ सम्पन्न होता है।

घुटते हुए अँधेरे का काजल छँटेगा :

"अधियारे जंगल में एक मोमबत्ती
काजल के छँटने का प्रण रत्ती रत्ती।"

परन्तु, शर्त है आखिर देवताओं ने अपने-अपने हिस्से की शक्ति ही तो दी थी जिससे एक महाशक्ति का प्रादुर्भाव और महिषासुर का पराभव हुआ। हम अपने-अपने हिस्से का दिया जलायें, अपने-अपने हिस्से को आग दें, उसे भीतर का स्नेह दें, धवलिम उजली बाती दें और अपनी मिट्टी की तपस्या दें, अँधेरा छँटेगा ही, अँधेरा कटेगा ही, अँधेरा हटेगा ही। तथास्तु।

नीयत की शल्य-चिकित्सा : एक प्रत्याक्रमण

'तुलसीदास : समाज के पथभ्रष्टक' पुस्तक का प्रकाशन हुआ। उदारता के नाम पर दिवालिया हिन्दू समाज में एक क्लीव आक्रोश का इक्का-दुक्का बुलबुला उठा और शान्त हो गया। 'क्षमा सोहती उस भुजंग को जिसके पास गरल है', उदारता—क्षमा के नाम पर दिवालियापन और कमजोरी को ही प्रश्रय दिया गया। हम में दो छोर हैं। एक डानक्विकजोट की तरह पनचक्की को दैत्य मानकर भाला लिए दौड़ा जा रहा है, ऐसा आतंकित है वह। दूसरा छोर अकर्मण्यता और काहिली, प्रमाद पर पर्दा डालने के लिए, भारी-भरकम शब्दों एवं उक्तियों का प्रयोग करता है तथा क्षमा अथवा उदारता किंवा 'सीधी मार कबीर की चित से दिया उतार,' उनको इतना महत्त्व क्यों दिया जाय, उनकी उपेक्षा की जानी चाहिए, यह छोर ऐसे तर्कों का सहारा लेता है और रेगिस्तानी तूफान के समक्ष रेत में सर छुपाकर शुतुरमुर्ग की भाँति स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है।

हमारा आरम्भ से ही यह रुख रहा है। लोग-बाग हमारे शलाकापुरुषों, हमारी रस्मों, हमारी रीतियों, हमारे रिवाजों, हमारे आर्षग्रन्थों पर आक्रमण करते हैं, आरोप लगाते हैं और हम कटघरे में खड़े मुजरिम की भाँति सफाई देते हैं। हमारा स्वर क्षमायाचना का स्वर होता है। हमारा रुख बराबर प्रतिरक्षात्मक ही रहा। वे, जो आक्रामक होते हैं, आक्रमण का लाभ उठाते हैं। हम न केवल सुदूर अतीत को भूल गये हैं, वरन् निकट अतीत को भी हम याद नहीं रख पाते। पाकिस्तान का कश्मीर सन्दर्भ हो, चीन का मैकमोहन रेखा सन्दर्भ हो अथवा इजरायल का सन्दर्भ हो, आक्रान्ता ही लाभ में होता है। आक्रमण ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिरक्षा है, यह हम कभी नहीं सोच पाये। इतिहास बारम्बार अपने को दुहराता है, केवल इसलिए कि हम इतिहास से कभी सबक नहीं लेते।

स्वस्थ धरातल पर हम आत्मालोचन के बराबर पक्षधर रहे हैं। आत्मालोचन, आत्महीनता-ग्रन्थि और आत्मदया में अन्तर होता है। हम जानते हैं कि वह जाति, वह समाज, वह राष्ट्र, जो समय-समय पर अपने जीवन-दर्शन, अपने शलाकापुरुषों, अपने आर्षग्रन्थों, अपने महापुरुषों, आदर्शों और सिद्धान्तों को युगानुरूप बारम्बार आत्मालोचन की अग्नि-परीक्षा से नहीं गुजरता, उसमें घुन लग

जाता है और वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अस्तु हम स्वस्थ आलोचना का स्वागत करते हैं। हम मानते हैं कि सम्यक् विकास के लिए आलोचना आवश्यक है, परन्तु जिस मंच से यह पुस्तक आयी है, उसकी नीयत, उसका उद्देश्य ही संदिग्ध है।

वह पत्र, जिसमें ऐसे, इस सन्दर्भ के लेख प्रकाशित किये गये हैं, जिन्हें बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया, उन लेखों पर आपत्ति उठाने पर अपनी सफाई देता रहा है कि हम हिन्दू समाज के सदस्य हैं, अस्तु उसकी जरा-जजर, जीर्ण-रूढ़ परम्पराओं, रीति-रिवाजों, रस्मों, पुस्तकों, सिद्धान्तों, महापुरुषों, आदर्शों, मान्यताओं पर प्रहार करना प्रगतिशीलता मानते हैं और यह सब कुछ समाज की स्वस्थ संरचना में सहायक होता है। जब यही तर्क एक संगठन-विशेष देता है कि हमें हिन्दू मात्र को संगठित करना है तो यही मंच उसे संकीर्ण साम्प्रदायिक नाजी फासिस्ट कहते नहीं अघाता और सम्पूर्ण भारतीय समाज को संगठित करने की बात कहता है। क्यों जनाब, सम्पूर्ण भारतीय समाज की परम्पराओं रूढ़, जरा-जर्जर मान्यताओं को हाथ लगाते आपको साँप क्यों सूँघ जाता है? क्या हिन्दू समाज में ही रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास हैं? क्या सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी, यहूदी, मुसलमान समाज रूढ़िमुक्त हैं? फिर आचरण में यह दोगलापन क्यों?

सड़कछाप साहित्य जन-साहित्य के नाम पर अधिक बिक्री के रूप में धड़ल्ले से चलता है। बिक्री अधिक हो, मात्र इसलिए चौंकाने के लिए महापुरुषों, पवित्र ग्रन्थों पर बदनीयती से किये गये प्रहार को मैं एक दूसरे छोर की अश्लीलता मानता हूँ। इसका पर्दाफाश किया जाना चाहिए। इस पत्र का उद्देश्य ऐसे लोगों के लेखों द्वारा समाज-सुधार नहीं, वरन् पत्र की अधिकाधिक बिक्री करना और गफलत में पड़े लोगों की रक्त-पसीने से कमाई हुई पूँजी की जेब काटना है। फलतः संस्कारहीन, अधकचरे जन इन सामग्रियों का अपने विकृत मनोरंजन के लिए उपयोग करते हैं।

अपना सोना खोट, पारखी कौन दोष? जरा हम अपने गरेबान में झाँक कर देखें। वे प्रोफेसर, जो तुलसी को पढ़ाकर रोजी-रोटी कमाते हैं, वे शोधार्थी, जो तुलसी पर शोध करके अपने कैरियर बनाते हैं, वे लेखक, जो तुलसी पर रायल्टी खाते हैं, वे मुद्रक और प्रकाशक जो तुलसी की कमाई खाते हैं, वे हजार-हजार पेटस्थुआ, कथावाचक, जो तुलसी के चलते कोठी वाले हो जाते हैं, ये सब-के-सब, जो वस्तुतः तुलसी के यहाँ रोटी तोड़ते हैं, कान में तेल डाले पड़े हैं। तुलसी के कोटि-कोटि भक्तों के कानों पर जूँ नहीं रेंगती, जबकि तुलसी पर बद-नीयत, निर्मम और निर्लज्ज प्रहार हो रहे हैं।

नाम लेने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे पत्र द्वारा निर्मित मंच में शामिल बाज लोगों की नीयत, उनकी हैसियत, उनकी औकात क्या है ? यह भी एक-दो अनुच्छेदों में परख लेना आवश्यक है—

कुहनी पर टिके हुए लोग, सुविधा पर बिके हुए लोग।
बरगद की करते हैं बात, गमलों में उगे हुए लोग।।

तुलसी ने भयंकर अभाव एवं दारिद्र्य में जीवन का प्रभात देखा, माता-पिता द्वारा अन्धविश्वास के अधीन परित्यक्त तुलसी को कदम-कदम पर भयंकर तिरस्कार-अवमानना की भयानकतम उत्पीड़क यातनाओं के बीच से गुजरना पड़ा, लेकिन ऐसा दारिद्र्य भी उनकी आत्मा की प्रखरता, उनकी तेजस्विता को मलिन नहीं कर पाया। एक अनुपमेय विनय उनके भीतर के फौलाद अथवा इस्पात को दृढ़, दृढ़तर से दृढ़तम बनाता गया। उन्होंने अहं और दर्प का विसर्जन करते हुए घोषित किया, 'धोखेहु जिनके मुखन ते निकसत है श्रीराम। उनके पग की पानहीं मेरे तन की चाम।' और जब सम्राट् अकबर, तत्कालीन एशिया की सबसे बड़ी शक्तिशाली सल्तनत का दावतनामा महाकवि अब्दुर्रहीम खान-खाना के माध्यम से मिलता हैं तो रचनाकार की सात्त्विक अस्मिता घोषित करती है, "हौं तो चाकर राम को पढ़ो-लिखो दरबार, तुलसी अबका होयँगें नर के मनसबदार।" व्यक्ति के विकास-सन्दर्भ में मनोविज्ञान-सम्मत सभी तर्कों, निष्कर्षों और निर्णयों को तुलसी ने अपने विकास-क्रम में खण्डित कर दिया। तुलसी को समाज द्वारा जो प्रताड़ना, अभाव, तिरस्कार, अपमान मिला, उसके चलते तुलसी को, मनोविश्लेषण के अनुसार, समाज से प्रतिशोध लेने वाला एक दुर्धर्ष डकैत अथवा गुण्डा होना चाहिए था, उनकी रचनाओं में भयानक कठोर कटु अभिव्यक्तियाँ होनी चाहिए थीं। परन्तु यह सब कुछ नहीं हुआ। तुलसी गरलपायी नीलकण्ठ हो गये और समाज में अमृत का ही वितरण करते रहे। तुलसी ने रचनाकार के रूप में अपनी रचनाधर्मिता, अस्मिता और लेखकीय मान-प्रतिष्ठा के लिए सभी अपेक्षित मूल्य दिये।

अब जरा इन्हें देखें, जो तुलसी पर उँगली उठाते हैं। क्षुद्र अहंकार एवं दर्प के पुतले, सुविधाभोगी, जरा-जरा-सी सुविधा-सुभीता के लिए घिनौने समझौते करने वाले, सम्राट् तो क्या सत्तारूढ़ दल का विधायक अथवा दारोगा जी थूक भी दें तो धन्य हो जाने वाले, ये तुलसी पर प्रहार करते हैं। इनके पास नैतिक सम्पदा क्या है ? क्या है इनकी हैसियत और औकात ? सुविधाएँ वसूलने के लिए दुम हिलाना ही जिनकी नीयत और नियति है, वे तुलसी पर कटाक्ष करते हैं, 'आन के लोखरी सगुन बिचारै, आपन कुकरन से नुचवावै'। तुलसी इनकी

नादानी पर वत्सल भाव से मुसकराता होगा। बाप की कपाल-क्रिया आखिर बेटा ही तो करता है। यह उसका सहज अधिकार होता है।

इनके प्रहार के प्रमुख मुद्दे हैं—तुलसी मौलिक नहीं हैं, तुलसी भाग्यवादी हैं, अकर्मण्य बनाते हैं, तुलसी गप्पी हैं, तुलसी नारी-निन्दक हैं, तुलसी वर्ण-व्यवस्था के पोषक हैं, तुलसी हरिजन-विरोधी हैं, आदि-आदि।

मानस के कुछ अंशों के साथ उनके समानान्तर दूसरे ग्रन्थों के उद्धरण देकर ये लोग यह सिद्ध करना चाहते हैं, तुलसी मौलिक नहीं, यथा—'मूकं करोति वाचालं, पंगु लंघयते गिरिं', 'मूक होयँ वाचाल पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन' आदि-आदि। इस प्रकार के उद्धरण देकर आप समझते हैं कि आपने बड़ा तीर मार लिया है। तुलसी तो स्वयं घोषित करते हैं, 'नाना पुराण निगमागम……' इसमें आपने नया क्या कुछ दे दिया है जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, 'क्वचिदन्यतोऽपि……' वह आपकी समझ में नहीं आया। समझ में आयी तो केवल चोरी और नकल? बड़ी दूर की कौड़ी ले आये आप। अन्धे को अँधेरे में बड़ी देर की सूझी। अत्यन्त विनयपूर्वक कहा गया तुलसी का महत्त्वपूर्ण निवेदन 'क्वचिदन्यतोऽपि' और 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे' आपके पल्ले नहीं पड़ा। 'सकल पदारथ हैं जग माहीं, करमहीन नर पावत नाहीं' इसमें आपका कोई दोष नहीं है।

तुलसी गप्पी हैं। यह उनका दूसरा अरोप है, 'सोलह योजन मुख तेहिं ठयऊ, तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ।' आदि उदाहरण प्रस्तुत कर, यह उन्हें गप्पी सिद्ध करते हैं। ऐसे आँकड़े देकर यह अपना दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा उछालते हैं। साहित्य का अदना-सा विद्यार्थी भी अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के भेद समझता है और यह अशर्फुलमखलूकात…। मुझे याद आता है एक प्रसंग। एक नौसिखिया सम्पादक एक बाल कविता पढ़ रहे थे। कविता का शीर्षक था 'कुटिया की शोभा'। उसमें एक पंक्ति थी, 'इसकी सुषमा देख स्वर्ग भी स्वयं हाथ मलता है।' सम्पादक-प्रवर हँसने लगे, भला स्वर्ग के पास हाथ कहाँ होता है? वह हाथ कैसे मलेगा? आदि-आदि। तुलसी को गप्पी साबित करने वाले, यह जो उद्धरण एकत्र करते हैं, उनसे उनकी प्रवृत्ति उसी नौसिखिया सम्पादक की-सी जान पड़ती है। सूक्ष्म वस्तुओं को देखने-परखने के लिए मैगनीफाइंग ग्लास की आवश्यकता होती है। पुराण, साहित्य एवं काव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों से बहुधा मैगनीफाइंग ग्लास का काम लिया जाता है। ऐसा नहीं है कि इतना यह जानते नहीं हैं, परन्तु उसे जानकारी दी जा सकती है जो अनजान हो। जिसने जानबूझ कर सोद्देश्य अज्ञान ओढ़ रखा हो, उसे आप क्या जानकारी देंगे। 'फूलहिं-फलहिं न बेंत जदपि सुधा बरसैं जलद, मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलै बिरंचि सम।'

'होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि साखा' जैसे उद्धरण प्रस्तुत कर नरपुंगव तुलसीदास को भाग्यवादी और समाज को अकर्मण्य बनाने वाला बतलाते हैं। जीवन व्यापक है, वह केवल एक दिशोन्मुखी नहीं होता; वह चतुर्मुखी होता है। प्रत्यक्षतः विरोध का आभास देता कथन वस्तुतः जीवन की व्यापकता में परस्पर अनुपूरक होता है। एक ओर 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि साखा' है तो दूसरी ओर 'कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा' भी है। परन्तु जहाँ घिनौना प्रहार ही मकसद है, उन्हें 'तुलसी बिरवा बाग के सींचत से कुम्हिलाय, रहैं भरोसे राम के पर्वत पर हरियाय' ही नजर आता है।

तुलसी नारीनिन्दक हैं, 'नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं।' अथवा 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।' आदि-आदि। मैं पूछता हूँ महाकाव्य अथवा उपन्यास के प्रत्येक पात्र के माध्यम से क्या केवल रचनाकार ही बोलता है या उस पात्र के चरित्र, भूमिका और परिवेशगत आवश्यकताओं का भी कोई तकाजा होता है ? तुलसी मूलतः भक्त हैं, उनकी भावदृष्टि है, वे शिव, हनुमान् और भरत के माध्यम से ही स्वयं को उजागर करते हैं। परन्तु यह सब ये क्यों जानेंगे ? तुलसी के मानस की ही नारी पात्र सीता हैं, कौशल्या हैं, सुमित्रा हैं, सुलोचना हैं, मन्दोदरी हैं, त्रिजटा है, परन्तु आपको तो केवल शूर्पणखा ही दीखती है। इस दृष्टि-दोष का इलाज क्या है ?

तुलसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के पोषक हैं, वे हरिजन-विरोधी हैं। आपको 'पूजिय बिप्र सील गुण हीना' और 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' ही मिले ? आप निषादराज को भूल जाते हैं जिसे राम सखा का दर्जा देते हैं, जिससे मिलने के लिए उतावले भरत रथ छोड़कर उतर जाते हैं, जिसे चित्रकूट में रघुवंश के गुरु ब्रह्मर्षि वशिष्ठ बलपूर्वक उठाकर हृदय से लगाते हैं, जो भरत को भी, भ्रमवश राम का विरोधी समझकर उनसे युद्ध के लिए तत्पर होता है। चित्रकूट में राम देवताओं को तो दूर से प्रणाम करते हैं, ऋषि-मुनियों को उठकर दण्डवत प्रणाम करते हैं, परन्तु कोल-भीलों को, आत्मीय स्वजनों की भाँति अपने इर्द-गिर्द एकदम करीब चारों ओर बिठा लेते हैं। राम भीलनी शबरी के जूठे बेर खाते हैं। यह सारे प्रसंग इन्हें नजर नहीं आते। नफरत, घृणा के ये थोक अढ़तिये केवल उन्हीं प्रसंगों को देख पाते हैं जिनसे इनके घृणित उद्देश्यों की पूर्ति होती है। मैं यह नहीं कहता कि उन प्रसंगों की चर्चा न हो, उन प्रसंगों की भी

चर्चा होनी चाहिए, परन्तु इन उजले सन्दर्भों के साथ ताकि सम्यक् चित्र प्रस्तुत हो, केवल इन या उन प्रसंगों से बात एकांगी ही रह जाती है।

अस्तु, इस प्रकार सुनियोजित प्रहार का प्रत्याक्रमण भी अत्यन्त सुविचारित होना चाहिए। उस पत्र का इतना सरकुलेशन, इतना प्रचार-प्रसार कैसे है? कौन उसे पढ़ता है? क्या हम और हमारे लोग उन पाठकों के हुजूम में शामिल नहीं हैं? हम जहाँ भी हैं, अपने स्तर से न केवल उस पत्र का बहिष्कार करें, वरन् दूसरों को भी बहिष्कार के लिए प्रेरित करें। अखबारों में, पत्र-पत्रिकाओं में, छोटे-छोटे पत्रकों में इनके विरुद्ध लिखा जाय। स्थान-स्थान से प्रतिवेदनों पर लक्षावधि हस्ताक्षर कराकर सूचना मन्त्रालय, गृह मन्त्रालय एवं इस पत्र के मालिक को यह प्रतिवेदन भेजे जायँ। स्थान-स्थान पर महती सभाओं, शिक्षण-संस्थाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा इस आशय के प्रस्ताव पारित कर सम्बद्ध मन्त्रालयों एवं इस पत्र के मालिक को भेजे जायँ। प्रबल, सकर्मक, सार्थक, सक्रिय जनमत तैयार किया जाय। अनेक और भी तरीके हो सकते हैं। इसको इतना व्यापक स्वरूप दिया जाय, ताकि भविष्य में कोई दुर्मुख ऐसा दुस्साहस न कर सके। सतत कर्मठ जागरूकता ही इसका मूल्य है।

('मानस संगम' द्वारा प्रकाशित ''गोस्वामी तुलसीदास : समाज के पथ-प्रदर्शक' नामक ग्रन्थ से।)

इलाहाबाद मेरा मायका है

वह, जो निरुद्देश्य जिया, वह तो जिया ही नहीं, वह तो केवल बना रहा, फिर उसका मरना क्या ? वह, जो सोद्देश्य जिया, वही भरपूर जिया, वह तो कभी मरता ही नहीं, फिर शोक किसके लिए किया जाय ? फादर बुल्के उन लोगों में थे जो सोद्देश्य जीते हैं, भरपूर जीते हैं। अभी पौने नौ की समाचार-बुलेटिन में फादर कामिल बुल्के के महाप्रयाण का दारुण संवाद प्रसारित किया गया। एक अवसाद आकण्ठ भर आया। फादर कामिल बुल्के की हिन्दी-सेवा से परिचित सम्पूर्ण हिन्दी-जगत्, दशरथ-मरण संवाद पर स्तब्ध भरत की तरह मर्माहत, तभी महर्षि वशिष्ठ का सान्त्वना स्वर उभरता है : 'सोचिअ बिप्र प्रपंच रत बिगत बिवेक बिराग'। फादर बुल्के तो सही अर्थों में विवेक-विराग-सम्पन्न यती थे। परिमल की गोष्ठियों में फादर को दूर-दूर से देखता-सुनता रहा, कभी उनके निकट आने की पात्रता अपने भीतर महसूस नहीं की; पता नहीं, मेरी हीनग्रन्थि थी या क्षुद्र अहं अथवा दम्भ।

सन् १९६२ का चीनी आक्रमण हो चुका था, पराभूत देश के बुद्धिजीवियों ने सत्ता के संकेत पर प्रयाग में साहित्यकार-सम्मेलन का आयोजन किया। राष्ट्रीय एकता के लिए बुद्धिजीवियों से कहा जा रहा था कि ऐसा कोई विवादास्पद मुद्दा न उठायें जिससे देश की एकता पर आँच आये और स्वयं सत्ता भाषा विधेयक जैसे विवादास्पद मुद्दे को उछाल रही थी। क्रीत बुद्धिजीवी अहर्निश कीर्तन कर रहा था, 'चीनी आक्रमण प्रच्छन्न रूप से एक वरदान है, उसके चलते सारा देश एक हो गया है।' सुन-सुन कर कान पक चले थे, मैं अपने वक्तव्य में बहुत कटु हो आया था। दूर बैठे, फादर बुल्के मेरे निकट आये। वे मुझसे बड़े थे मुझे ही उन तक जाकर प्रणाम करना था। फादर ने कहा, "मालवीय जी, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।" मुझ पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। "आपने जो कुछ कहा, उससे मैं अक्षरशः सहमत हूँ, परन्तु आपका स्वर लक्ष्मण के बजाय भरत का होता........." फादर ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया। फादर का धीमा-धीर संयत कथन, अद्भुत सार्थक टिप्पणी थी। मेरे सामने, उन्हें सविनय अपनी प्रणति देने के अलावा, दूसरा विकल्प ही न था।

फादर एकदम राममय थे, कहीं भी कोई बात पुष्ट करनी हो तो वे रामकथा से ही दृष्टान्त उठाते थे। तुलसी-जयन्ती के अवसर पर मेरे यहाँ वे कार्यालय में पधारे। फादर ने अपनी कामना व्यक्त की, "जब कभी परलोक जाऊँगा तो माता-पिता के चरण छूने के बाद परमात्मा से पूछूँगा—तुलसी कहाँ हैं ?" उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया था, पश्चिमी चमक-दमक से आक्रान्त पश्चिमोन्मुख भारतीय समाज को देखकर मुझे सूर की पंक्तियाँ याद आती हैं, "सूर दास प्रभु कामधेनु तज छेरी कौन दुहाये।" वस्तुतः हमारे पास कामधेनु है और हम कामधेनु को छोड़ कर छेरी दुहा रहे हैं।

अध्यवसाय एवं व्याख्या का उनका अपना विशिष्ट तरीका था। प्रयाग की एक गोष्ठी में बोलते हुए फादर ने कहा—"रावण सहस्रार्जुन के यहाँ अस्त-बल में बँधा रहा, उसके दस शीश पर सहस्रार्जुन दिये जलाते रहे, इससे यह सिद्ध होता है कि सहस्रार्जुन रावण से अधिक पराक्रमी था। सहस्रार्जुन का वध करने वाले परशुराम निश्चय ही रावण का वध कर सकते थे। परन्तु मेरे मत से ऐसा सम्भव नहीं था। रावण दसमुख था, दसमुख होना प्रतीक था। वह इस सीमा का भोगी था कि उसकी दसों इन्द्रियाँ आनन हो चुकी थीं, वह केवल भक्षण, आस्वादन ही जानता था। दूसरी ओर दसों इन्द्रियों को रथ बनाकर उस पर आरूढ़ दशरथ के आत्मज दाशरथि राम चरम सीमा के योगी थे। वे ही रावण का वध कर सकते थे।"

रामकथा के मर्म-चिन्तन में अहोरात्र वे अवगाहन करते रहते थे। एक अन्तरङ्ग गोष्ठी में उन्होंने कहा, "एक बार मैं सोचने लगा, 'तृण धरि ओट कहत वैदेही' का क्या आशय है ? तिनके से कितनी ओट मिलती है ? वैदेही ने तिनके की ओट क्यों ली ? गोसाईं जी का इसमें गूढ़ आशय निहित है। यह यूँ नहीं है। मेरे मन-मस्तिष्क में तिनकों से निर्मित नीड़, डूबते को तिनके का सहारा-जैसी अनेक अवधारणाएँ मन-प्राण में कल्पना में उभरीं, लेकिन जिज्ञासा तुष्ट नहीं हुई। शब्द का एक सामान्य अर्थ होता है, उससे आगे उसका बोध होता है। फिर जब वही शब्द कृपालु हो, तो करुणावश वह हम पर अपना मर्म उजागर करता है। अपने यहाँ तो शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ऐसा ही कोई एक क्षण रहा होगा जब तिनके का मर्म मेरे सामने प्रकट हुआ। मुझे केनोपनिषद् की कथा याद आयी जिसमें यक्ष-रूपी ब्रह्म ने अहंकारी देवताओं के समक्ष चुनौती के रूप में एक तिनका रख दिया था। अग्नि अपनी समस्त शक्ति लगाकर भस्म नहीं कर पाया। वायु अपनी सारी सामर्थ्य लगाकर जिसे नहीं उड़ा पाया और वरुण जिसे अपनी सारी क्षमता लगाकर डुबो नहीं पाया। तभी आद्याशक्ति उमा ने प्रकट होकर इन्द्र को सारा रहस्य समझाया था। रावण मूर्तिमान अहंकार था और वैदेही

आद्याशक्ति । जानकी ने उस मूर्त अहंकार के सामने चुनौती के रूप में तिनका रख दिया था । जानकी शक्ति-स्वरूपा थीं जिसे शाक्तमत के रामायणकारों ने अनेक दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित भी किया है ।

कदाचित् सन् ७५-७६ रहा होगा । बिहार महालेखाकार कार्यालय, राँची में एक आयोजन था । आयोजन रात्रि में था । मैं प्रातः ही पहुँच गया था । दिन भर आखिर क्या करता ? सुप्रसिद्ध ललित गीतकार श्री सोम ठाकुर भी मेरी ही तरह तड़के ही पहुँच गये थे । मैंने उनसे पूछा, "फादर कामिल बुल्के यहीं सेण्ट जेवियर्स कॉलेज में हैं, मिलना चाहोगे ?" सोम सहर्ष तैयार हो गये । हम दोनों फादर से भेंट करने के लिए चल पड़े । मैंने रास्ते में सोम को बतलाया, "फादर इलाहाबाद को अपना मायका कहते हैं ।"

कॉलेज पहुँचने पर चौकीदार से मालूम हुआ, फादर को ज्वर है । मैंने उसे एक पर्ची दी जिसमें मेरा और सोम जी का नाम लिखा था । साथ ही यह भी कहा कि अभी नहीं, जब फादर स्वस्थ हो जायँ तो उन्हें यह पर्ची देकर बतलाना कि यह लोग आपसे भेंट करने आये थे । चौकीदार ने कहा, "आप लोग ठहरिये, फादर का आर्डर है कि जो भी आयें, उन्हें खबर जरूर दी जाय, फिर वे जैसा कहेंगे, वैसा होगा ।" चौकीदार उन्हें सूचना देने गया और हम लोगों ने देखा कि अगले ही क्षण फादर चादर लपेटे, झपटते हुए चले आ रहे हैं । "फादर यह तो बड़ा अपराध हो गया, आपको ज्वर और हम लोग..." "नहीं-नहीं...आप तो जानते हैं; इलाहाबाद मेरा मायका है, मायके से कोई आये और बिना भेंट ऐसे ही लौट जाय, तो मुझ पर क्या बीतेगी ? मैं कमरा खुलवा रहा हूँ, आप लोग उधर आइये ।" हाथ मिलाने के क्रम में हमें लगा फादर को उस समय १०४ डिग्री से अधिक ज्वर रहा होगा । हम संकोच एवं अपराध बोध से ग्रस्त थे ।

कमरे में बैठ जाने के बाद फादर ने आग्रहपूर्वक स्वयं कॉफी बनायी । हम लोगों के सामने कॉफी और बिस्कुट रख कर स्वयं कॉफी लेकर वे बैठे । फिर बातचीत का अबाध सिलसिला शुरू हुआ । ज्वर की अवज्ञा कर फादर शिशु-सुलभ, संत-सुलभ ताजगी एवं निश्छलता से चहक रहे थे । उन्होंने इलाहाबाद के साहित्य-जगत् के एक-एक लोगों का प्रेमपूर्वक कुशल-क्षेम पूछा । मैंने पूछा, "फादर आजकल क्या कर रहे हैं ?" फादर ने बतलाया "रामकथा का नया संस्करण छपना है, उसमें परिवर्द्धन-संवर्द्धन कर रहा हूँ ।" मैंने पूछा "परिवर्द्धन,

संवर्द्धन ? उन्होंने कहा, "मुझे कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण मिले हैं जिस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि मेरे राम ने बालि को छिपकर नहीं मारा। राम मेरे इष्ट-नायक हैं, प्रमाणों से उनको छूती हुई एक काली लकीर मिटती है। मैं अनुमान लगा सकता हूँ कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पढ़ने पर उसकी सौन्दर्यानुभूति से अभिभूत गेटे हर्षातिरेक में किस तरह नाचने लगा होगा। इन प्रमाणों के मिलने पर मेरी स्थिति भी कुछ ऐसी हो गयी थी।" हम दोनों अभिभूत होकर फादर को न केवल सुनते, वरन् पीते भी रहे। हममें कितने हैं जो स्वयं को इस तरह राम से एकाकार कर चुके हैं ? फादर लगभग घण्टे-डेढ़ घण्टे बराबर भावविभोर होकर बोलते रहे। हम जब चलने को हुए तो फादर ने कहा, "आप लोगों से मिलकर मुझे कितनी हार्दिक प्रसन्नता हुई, इसका प्रमाण आप स्वयं देखें !" फादर ने हाथ बढ़ा लिये। फादर का तेज ज्वर केवल मामूली हरारत भर रह गया था। सोम तो एकदम निहाल थे।

तुलसी और रामकथा की प्रासंगिकता पर गोष्ठी थी। 'अल्प विद्या भयंकरी' अथवा 'क्षुद्र नदी भरि चलि उतरायी' जैसे तथाकथित लोग तुलसी और रामकथा को अप्रासंगिक बतलाते हुए नितान्त ओछे हो चले थे। फादर मर्माहत थे, स्पष्टतः उनके चेहरे पर एक पीड़ा पढ़ी जा सकती थी। उन्होंने कहा, "आप लोगों ने तुलसी और रामकथा को पढ़ा है, आपने जो कुछ भी कहा है, शायद ठीक ही कहा हो। मैं तो पढ़ा-लिखा हूँ नहीं, मैंने न तो तुलसी को पढ़ा है, न ही रामकथा को। केवल दो दृष्टान्त देना चाहूँगा। मलेशिया के एक मुसलमान-अध्यापक को रामायण पढ़ते देखा। मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—आप रामायण क्यों पढ़ते हैं ? अध्यापक ने उत्तर दिया—बेहतर इन्सान बनने के लिए। संसार में बड़े-बड़े साहित्यकार हुए, उनके प्रति पूर्ण आदरभाव के साथ निवेदन करना चाहता हूँ कि आज तक उनके साहित्य के लिए किसी पाठक ने यह नहीं कहा कि मैं बेहतर इन्सान बनने के लिए इस साहित्य को पढ़ता हूँ। बेहतर इन्सान बनने की साधना अथवा यात्रा क्या कभी अप्रासंगिक भी हो सकती है।"

प्रतिनायक रावण कुम्भकर्ण को जगाता है। कुम्भकर्ण परिहास में कहता है, "रावण तुम तो मायावी हो, राम का रूप धारण कर सीता को प्राप्त कर लो, इसमें ऐसी क्या दिक्कत है ?" रावण उत्तर देता है, "कपट-उद्देश्य से भी राम का रूप धारण करते ही मेरी पापवृत्ति समाप्त हो जाती है, मैं क्या करूँ ? नायक को ऐसा आदर क्या किसी खलनायक ने संसार के किसी साहित्य में दिया है ? राम का यह रूप क्या कभी अप्रासंगिक भी हो सकता है ?"

फादर तो 'विद्या ददाति विनयं' की प्रतिमूर्ति थे। सन्त से मिलने का सुख उनके दर्शन से प्राप्त होता था। वे तो साक्षात् 'सन्त हृदय नवनीत समाना' थे। गोसाईं जी के शब्दों में—

'एक घड़ी आधी घड़ी, आधिक में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, हरै कोटि अपराध ।।'

●

काजल की स्लेट पर उजले हस्ताक्षर

मैं महालक्ष्मी मन्दिर से रात के दूसरे पहर में सजी बम्बई को देख रहा हूँ। महालक्ष्मी से, हैंगिंग गार्डेन से दादर में बम्बई को देखें तो रात जितनी ही काली होगी, बम्बई उतनी ही ज्यादा खूबसूरत मालूम होगी। उस बम्बई की डायमण्ड नेकलेस पहने नायिका से तुलना की गयी है। चकाचौंध रोशनी की एक अद्भुत नुमाइश होती है। उसी बम्बई के समुद्र-तट को एक सुनसान स्थल से रात्रि में देखना चाहता था; गया भी, परन्तु कदाचित् वह बदा नहीं था। तथापि जो देखा, उसने मुझे सम्पन्नतर ही बनाया।

यह गणपति-विसर्जन की रात्रि है। लकड़ी के पटरों पर एक फुट के गणपति से लेकर आदमकद गणपति तक की प्रतिमाएँ विसर्जित की जा रही हैं। पटरी पर चारों ओर जगमग-जगमग दिये होते हैं। रात के अँधियारे में गणपति तो उतने स्पष्टतर नजर नहीं आते, परन्तु दिये......? समुद्र की लहरों पर एक अद्भुत दीपावली का पर्व अवतरित होता है। सागर की काली-काली विशाल छाती पर एक रौशन हाशिया खिंच जाता है। लहरों का हिंडोला झूलते सूरज के नन्हें-नन्हें छौने।

समुद्र की थाल में आरती के दिये सँजोये यह पुजारिन-सी बम्बई। कितनी भिन्न है यह बम्बई। एक ओर हीरों का हार पहने 'ग्लैमर क्वीन' नायिका-सी बम्बई, काली रात में जगमग करती बम्बई, लगता है नीग्रोवासियों के बीच क्लीयोपेट्रा हो तो दूसरी ओर यह सौम्यदर्शना पुजारिन-सी बम्बई, कितनी गरिमामयी !

तैरते हुए इन्हीं दियों में वे तीन दिये भी हैं जो काल के सैलाब, उनकी पर्वताकार अजगरी लहरों, झंझावातों, चक्रवात और ज्वार की अवज्ञा करते हुए आज भी जगमगा रहे हैं। हमारे बनाये प्रकाश-स्तम्भ भले ही ढह जायँ, परन्तु कोई काल, कोई परिवर्तन उन दियों को आज तक नहीं बुझा पाया; कभी बुझा पायेगा, यह भी सन्दिग्ध है।

हजरत मूसा के समक्ष जब नूर का जलवा उजागर हुआ, वे उस आलोक की प्रखरता को झेल नहीं पाये, नेत्र मुँद गये और इन्हीं बन्द आँखों से उन्होंने उस

नूर का नजारा किया । शिशु जी कहते हैं, कौन-सा ममीरा थी मीराँ लगाये हुए जो आँख मूँदकर भी घनश्याम देख लेती थी । आँख मूँदकर सूर ने जो कुछ देख लिया, वह आँख वालों को कहाँ नसीब होता है । उस आलोक को देखने के लिए आवश्यकता है, एक अदद दिव्य दृष्टि की जो कोई कृष्ण अपने किसी अर्जुन को देता है ।

...परन्तु यह दिया...? सूरज काले कोस में जा बैठा है, चन्द्रमा, जो सूर्य का मुखापेक्षी है, उसकी बिसात ही कितनी है ? अँधेरे में अपनी परछाईं भी साथ छोड़ देती है । इतना निविड़ अन्धकार ? मावस की घटाटोप अँधियारी, काली-कलूटी रात । आसमान में मुँह चिढ़ाते शरारती बच्चों-से सितारे और भटकी हुई भली आत्माओं को अँधेरे में राह दिखाते फरिश्तों को लालटेन-से टिमटिमाते जुगनू । सूर, ससी, उडगन और खद्योतों में दीपक का कोई नाम न था, परन्तु दिये ने नाहक कोई मान नहीं किया, उसे जरा भी बुरा नहीं लगा । मिथ्या अहं के लिए उसके भीतर कोई गुंजाइश नहीं थी । दीपक ने सविनय अपराजेय आत्मविश्वास से सूरज का उत्तराधिकार सहेज लिया ।

उसके पास मिट्टी की एक अदद अदना-सी कमजोर देह है, लेकिन आकण्ठ नेह से लबालब है । उजली-उजली धवल वर्तिका का संकल्प-उपवीत धारण किये वह दिया ओठ पर आग रखकर मुसकराता है । उसकी वह्नि-स्मिति से नरम-मुलायम रोशनी उपजती है जिससे आदमी चुंधियाता नहीं, वरन् उस सहती-सहती मखनिया रोशनी में अपनी राह तलाश लेता है । उसकी निष्कम्प लौ कभी एक पाँव से खड़ी तपस्यारत अपर्णा की छवि रूपायित करती है तो कभी गुड़-हल की अरुणाभ कली का भान कराती है । कभी तिमिर के माथे पर केशर का तिलक सिरजती है तो कभी एक विराट् अस्वीकार-स्वीकार की तर्जनी की चुनौती-मुद्रा धारण करती है । कितना सर्जनात्मक होता है उसका विसर्जन । इस दिये में सूरज स्वयं की तलाश करता है और स्वयं को उपलब्ध करता है ।

इतनी पहचान से ही शायद आप जान गये होंगे, यह दीप माता त्रिशला की कुक्षि से उगा है । एक दीप जिसने जब अनासक्त होकर प्राणिमात्र के प्रति परम प्रीति का व्रत अंगीकार कर आवरणों को चुनौती दी तो सारे प्रपञ्च, सभी पाखण्ड, एक-एक आडम्बर, सारी वञ्चनाएँ, छलनाएँ, राई-रत्ती कृत्रिमता, बनावट तार-तार हो गयी । उस दिगम्बर महावीर में लोगों ने अपने परमकल्याण शिव महायोगी दिगम्बर भगवन् शंकर को जाना-पहचाना और उसके समक्ष नत-मस्तक हो गये ।

मावस ! इत्ता गुमान अच्छा नहीं होता । एक क्षण को भी यह भ्रम मत पालना कि तुमने अपने साँवले आँचल में उस दिये को समेट लिया है और उसकी लौ केवल एक धुएँ की लकीर छोड़कर स्थगित हो गयी है । वह आज भी उसी प्रकार उसी आन-बान से झिलमिला रहा है जिसे प्रगति देने के लिए रोज-रोज सूरज आता और अस्त होने के पूर्व अर्थात् शयन हेतु विदा लेने के लिए उसकी अनुमति लेता है, उसको अपना नमन देता है । क्या यह केवल संयोग है कि माता त्रिशला को स्वप्न में महालक्ष्मी का अभिषेक करते गजद्वय के दर्शन ही वर्द्धमान के आगमन का संकेत देते हैं और लक्ष्मी की अवतारणा करती दीपावली की महाकालरात्रि भगवान् महावीर के महाप्रयाण का मुहूर्त प्रस्तुत करती है ।

मावस का अन्धकार ठहाका लगाता है । उसके अट्टहास के खोखलेपन में उसकी पराजय ही झलकती है । उसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि अमावस्या के अन्धकार को और भी श्लथ और शिथिल छोड़ जाती है । जानते हो, तिमिर के हलाहल का अहर्निश पान करना और प्रकाश-अमृत का वितरण ही जिस दीप का चिन्तन-व्रत रहा है, वह भी मूल शंकर है । मूलतः जो शंकर है, उसकी शंकर की नियति से इतर क्या नियति हो सकती है ? वह नियति स्वयं में कितनी श्लाघ्य है, कितनी वरेण्य ! वह विषपान करता है, पिसा हुआ शीशा उसके शरीर में उतर चुका है । वह हत्यारे के प्रति भी सदय होता है । दया ही उसका आनन्द है । वह दयानन्द है ।

वह वास्तव में विद्रोही है, विद्रोह अपने सम्पूर्ण उदात्त सन्दर्भों के साथ उसके पोर-पोर में भिना है । विद्रोही बर्बर नहीं होता, विद्रोह बर्बरता का पर्याय नहीं है । उसका विद्रोह प्राणिमात्र के प्रति एक व्यापक करुणा की आधार-भित्ति पर टिका हुआ है, "पिता, इन्हें क्षमा कर दे. क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?" सूली पर लटके हुए ईसा की यह प्रार्थना अपने नये संस्करण के साथ प्रस्तुत होती है । ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो । वह हत्यारे को उसकी जान बचाने में सहायक होता है । करुणा की एक अजस्र अबाध पुण्यतोया है जो भगवान् वर्द्धमान महावीर से मूलशंकर महर्षि दयानन्द तक अद्यतन अनवरत प्रवहमान है ।

इधर मिट्टी की देह का ऐसा अभ्युदय ! वह स्वयं को बादशाह राम कहता है, वह भारत है, वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह राम बादशाह है । वह तीर्थराम है. वह रामतीर्थ है, वह चिड़ियों में चहकता है । सूरज होकर शबनम की बूँद-बूँद में चमकता है । झरना बनकर कलकल संगीत को जीता है । वह साँवरे श्याम सलोने की बाँसुरी है । उसमें कभी चैतन्य, तो कभी मीराँ करवट बदलते हैं । वह सृष्टि के कण-

कण में स्वयं को पाता है। यह 'सीय राम मय सब जग जानी, करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी' का एक और पहलू है। मावस की कालिमा पर सदय होकर आती है उसकी कालिमा को कुछ कम करने के लिए। जिसने उसे अपने प्राणों का उजलापन दिया, वह अकारथ कैसे जायेगा !

'तिमिर के विरुद्ध यह अहर्निश संघर्ष है।' उस संघर्ष को एक सार्थक त्वरा, एक उदात्त गति दी है इन दीपत्रयी ने। दीपत्रयी, जिन्हें प्रणाम करने के लिए नित्यप्रति सूरज और चाँद आते हैं और अस्त होते हैं। यह अपने वरद किरण-कर से तिमिर को बुहारते रहते हैं। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, अनेक रूपरूपाय यह तम हारेगा ही। कल-परसों क्यों, देखते नहीं हो वह चिराग-तले अँधेरा यूँ दुबक कर बैठा है, जैसे विघ्नेश्वर गणेश-तले मूषक हो।

यह दीपत्रयी हैं, वर्द्धमान भगवान् महावीर, महर्षि दयानन्द और बादशाह रामस्वामी रामतीर्थ। यह तीन हैं, उपवीत के तीन सूत, त्रिपुण्ड, यह हैं त्रिलोचन, यह हैं त्रिलोक-त्रिशूल, यह हैं त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश। यह महाकाल के भी काल हैं। और कौन-सी है वह कालरात्रि है, मावस की घटाटोप अँधियारी रात, जो इन्हें बुझा देगी, अन्यथा बुझा पायेगी ?

आघात शिव बन जाते हैं

पत्थर वह जिससे मैंने ठोकर खायी है, अमित पूज्य है। ठोकर देने वाला अमित पूज्य ! भला क्यों ? ठोकर के माध्यम से वह सन्देश देता है, यात्रा पर निकल ही पड़े तो जरा आँख खोल कर चलो। यात्रा तुमने स्वेच्छा से स्वीकार की है, फिर प्रमाद कैसा ?

एक हथौड़ा किसी नदी के किनारे पड़ा लहरें देख रहा था। प्रत्येक लहर अपने साथ गोल-चिकने पत्थर लाती और तट को सौंप कर लौट जाती। एक-से-एक गोल-मटोल शंकरजी, एक-से-एक शालिग्राम। हथौड़े ने उनमें से एक लहर को टोककर पूछा, ''मैं भी ऐसे ही गोल-चिकना पत्थर गढ़ना चाहता हूँ, परन्तु जब कभी प्रयास करता हूँ, पत्थर दरक जाता है या फिर आठ-दस कोने की खीस निपोर देता है। तुम क्या करती हो ?'' लहर ने पहले तो एक कलकल-भरी खिलखिलाहट उछाली। फिर बोली, ''हम प्रहार नहीं करते। दुलारते हैं, सहलाते हैं।''

सृष्टि के आदि से अब तक एक-से-एक शिल्पकार हुए। उन्होंने एक से बढ़-कर एक प्राणवन्त प्रतिमाएँ बनायीं, परन्तु नर्मदेश्वर, शालिग्राम नहीं बना सके। शालिग्राम और नर्मदेश्वर तो नर्मदा की लहरें ही बनाती हैं। और प्रहार करने की नहीं, झेलने की बात करें तो झेला गया प्रहार ही तो माँगा हुआ आघात होता है।

पत्थर पर घन प्रहार
बड़ी अजब सूरत
आघातों से उभरी आती है मूरत
चोट खा निरखने के
सहज कटु करीने को
प्रतिश्रुत हूँ जीने को
कुछ थोड़े आँसू को,
ढेर से पसीने को।

यह घन प्रहार ही है जिसका आघात झेलकर पत्थर अपने भीतर छिपी प्रच्छन्न प्रतिमा उभार कर प्रसाद के रूप में हमारे-आपके हाथों को सौंप देता

है। कौन जाने यह प्रतिमा शिल्पकार के प्राणों में अवगुण्ठन उघारती है या पाषाणी घूँघट सरका कर पाहन से उभर आती है।

निराला जी का शरीरान्त हुआ। श्रद्धाञ्जलि-सभा में अमृतलाल नागर बोले, "मैंने जब कभी निराला को देखा, मुझे किसी देवता की प्रतिमा में प्रयुक्त वह पाषाण याद आया जो लगातार घन-प्रहार झेलकर अपने भीतर के गोपन रूप का प्रसाद प्रदान करता है। इन प्रहारों को झेलकर उसमें एक ऐसी पात्रता, ऐसी सामर्थ्य, ऐसी क्षमता जनमती है कि जमाना उसकी दहलीज पर माथा टेकता है, सजदे करता है, मन्नतें मानता है। और, उसकी मुराद पूरी भी होती है।"

प्रतिमाओं में जीवन्त, स्पन्दित, ज्वलन्त, आग्नेय, प्रखर, प्राणवन्त ऊर्जा का प्रस्तरीकरण होता है। पत्थर, जो किसी आड़े वक्त किसी दुस्साहसी के हाथ में आकर किसी आततायी का सर फोड़ सकता था, अपनी वह उपयोगिता भी खो बैठता है। परन्तु यह सब कुछ आक्षेप है। आघात के प्रसाद के रूप में ढालना, नर्मदेश्वर अथवा शालिग्राम बनना, पाषाणीकरण होना, सबका अपना-अपना है।

स्वाति मेघ बरसने में कोई कोताही नहीं करता। उसकी दृष्टि में मरुस्थल की रेत और सीप की कोख में कोई भेद नहीं। एक ओर मरुस्थल की सुलगन उसे भस्म कर देती है तो दूसरी ओर सीप उससे मोती ढालती है। यहीं पात्र का प्रश्न उठता है। कहाँ, कब, कैसे जीवन्त ऊर्जा का प्रस्तरीकरण होता है और कौन, कहाँ, कब, कैसे प्रहार झेलकर, चोट खाकर निखरने का सहज कटु करीना सीखता है।

ऐसी बड़ी क्या बात हो गयी थी? विमाता ने पिता की गोद से केवल उतार ही तो दिया था? सामान्य तुनकमिजाज बच्चा तो दस मिनट रोकर, हाथ-पाँव पटककर, मचलकर चुप लगा जाता। खरदिमाग अथवा बददिमाग बच्चा होता तो बहुत नाराज होता। इस तरह गाँठ बाँध लेता कि बड़ा होकर बागी बनता। सौतेली माँ से प्रतिशोध लेता और जाने क्या-क्या करता। परन्तु ऐसा तो कुछ नहीं हुआ। सौतेली माँ द्वारा दिया गया आघात माँ के अमृत-उपदेशों से सिंचित हुआ, पुष्पित हुआ, पल्लवित हुआ, सफल हुआ। कितने राज-कुमार आये, काल के सैलाब में तिरोहित हो गये, ऐसे कि कोई उनका नामलेवा नहीं रहा। किन्तु, पिता की गोद से अपमानित उतार दिया गया बच्चा, ऐसे पिता की गोद के संधान में निकल पड़ा जिस परमपद से उसे पदच्युत न किया जा सके। भीतर कहीं कोई कटुता नहीं, एक अजस्र सद्भाव-सदाशयता का स्रोत

अन्तर में अनवरत प्रवहमान रहा। विमातृज उत्तम पर जब यक्षों ने आक्रमण किया तो ध्रुव ने आगे बढ़कर आक्रमणों से लोहा लिया। वह नन्हा-सा ध्रुव अटल निश्चय, फौलादी संकल्प का पर्याय बन गया। ब्राह्मवेला में उत्तर दिशा में चमकता हुआ नक्षत्र हमारे अनिर्णय, अनिश्चय, संशय, दुविधा के लिए एक ज्वलन्त शाश्वत उत्तर बन गया।

नहीं मालूम कि विद्योतमा की कथा कितनी सच है और कितनी झूठ। तथापि यह परिकल्पना, कि उसके द्वारा प्रदत्त तिरस्कार, प्रताड़ना और अवहेलना में भावी कालिदास का रूप छिपा था, अविश्वास करने लायक नहीं जान पड़ती।

एक निहायत बोदा विद्यार्थी। आचार्य ने डण्डे से उसकी खूब आवभगत की। मगर वह कभी पाठ याद नहीं कर पाया। डण्डा खाने के क्रम में एक बार जब उसने दाहिनी हथेली फैलायी तो जाने क्या देखकर आचार्य ने डण्डा रख दिया, उनकी आँखें झलक आयीं। बालक ने पूछा, 'आचार्य जी क्या बात है ?' 'बेटे, नाहक तेरी पिटाई होती रही, तेरे हाथ में तो विद्या की रेखा ही नहीं है, कहाँ से पढ़ेगा तू ?' डण्डे तो शरीर पर पड़ते रहे, लेकिन आचार्य का यह कथन उसकी आत्मा पर कशाघात-सा लगा। उसने पूछा, 'आचार्य जी, कहाँ होती है विद्या की रेखा ?' आचार्य जी से विद्या की रेखा का ठौर-ठिकाना समझ कर वह उठ गया और अगले ही क्षण लहू-लुहान दाहिनी हथेली लिये लौटा। 'गुरु जी, मैंने अपनी हथेली में विद्या की रेखा चीर कर बना ली है, अब आप मुझे पढ़ायें, मैं विद्यार्जन करूँगा।' आचार्य जी उसका संकल्प-प्रदीप्त मुख देखकर अवाक् रह गये और संसार ने उस छोटे बच्चे को पाणिनि के रूप में जाना। पाणिनि से बड़ा वैयाकरण संसार ने आज तक नहीं जाना।

हम बहुधा मुर्दे देखते हैं, रुग्ण को देखते हैं, वृद्ध को देखते हैं, परन्तु हममें कितने हैं जो बुद्ध हो जाते हैं ? कभी हम टाल जाते हैं, क्योंकि प्रश्नों से आँखें चार करने का हममें साहस ही नहीं। कभी मृत्यु-भय से, रोग-भय से, जरा-भय से आक्रान्त हो जाते हैं। पराजय-बोध के अधीन एक असहायता, एक निरुपायता, एक विवशता के सामने सर झुका देते हैं। यहाँ एक राजकुमार है सिद्धार्थ, जो काल की अनिवार्यता को स्वीकारता हुआ भी, पराजय-बोध को पास फटकने नहीं देता। वह चुनौती स्वीकारता है और निदान के संधान में अलख जगाता निकल पड़ता है।

कलिंग वैसा युद्ध नहीं, जैसा कि इतिहासकारों ने बताया। तापस-कन्या, काषायवसना प्रिया सुनन्दा के बलिदान ने अशोक को चण्डाशोक से देवानांप्रिय,

प्रियदर्शी अशोक बना दिया। प्रिया द्वारा आत्मदान करके दिया गया आघात का एक अप्रतिम प्रसाद।

एक सामान्य बटुक की पीठ पर किसी कन्या के अश्रुविन्दु पड़ते हैं। बटुक रोती हुई कन्या से रुदन का कारण पूछता है। वह बतलाती है कि जिस तरह, जिस त्वरा से बौद्धमत का प्रचार-प्रसार हो रहा है, ऐसे में दिव्य बटुकों का दर्शन स्वप्न की बात हो जायेगी। कैसे थे वे आँसू ? कैसा रहा उनका प्रहार, उनका आघात, उनकी दुर्दान्त चोट ! कुमारिल भट्ट ने सौगन्ध लेकर देश से बौद्धमत के मूलोच्छेदन का संकल्प कर लिया।

पति-पत्नी में कहाँ नहीं होती टिन-फुन ? लेकिन कोई घर नहीं छोड़ता। रतना ने आखिर कहा क्या था ? तुलसीदास को इतना बुरा क्यों लगा ? रतना से प्राप्त उद्‌बोधन आघात का ही प्रसाद है, जो तुलसी युग को प्रदान करते हैं।

सुप्रसिद्ध ज्योतिषी कीरो ने लिखा है कि किसी ने नेपोलियन से कहा, 'तुम्हारे हाथ में भाग्यरेखा है ही नहीं।' उसने कहा बकवास करते हो और छुरी से चीरकर भाग्य रेखा बना ली। 'हाथों की इन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बन्दी मत बनो। अपने बल-पौरुष के बल पर अपने भविष्य का निर्माण करो।' ज्योतिषी का कथन नेपोलियन कभी नहीं भूल पाया।

एक बूंद आँसू की ऊष्मा सोद्देश्य जीवन-यापन की प्रेरणा देती है। जो निरुद्देश्य जिया, वस्तुतः जिया ही नहीं। उसके मरने, न मरने का प्रश्न नहीं उठता। और जो सोद्देश्य जीता है, उसे जरा, व्याधि और मृत्यु कभी स्पर्श भी कर पाते हैं ? वही एक बूंद आँसू एक बच्चे को अहिंसा की शक्ति का आभास देता है। पिता की जेब से चन्द सिक्के ही तो चुराये थे। पिता ने चार-छह चाँटे रसीद कर दिये होते, डाँट-डपट की होती तो अपने कर्तव्य की औपचारिकता से मुक्त हो जाते। 'कुकुर की मार अढ़ाई घरी' बच्चों पर भी लागू होती है। पिता ने पत्र पढ़ा और आँखों की कोरों से आँसू छलक आये। निःशब्द आँसू ! परन्तु दर्द बालक के मर्म में उतर गया। पुत्र के पत्र का निवेदन पिता के भीतर जाने क्या पिघला गया ! आँसू का वह प्रहार, वह आघात, वह प्रभाव बालक मोहन के मन में करुणा की, अहिंसा की ऐसी ज्योति जला गया जो जीवन-पर्यन्त उसका पाथेय बनी रही। मोहनदास करमचन्द गांधी से महात्मा गांधी या बापू बनने की यात्रा उस एक बूंद आँसू से शुरू हुई थी।

प्रहार हो, आघात हो या चोट, पकने की दो प्रक्रियाएँ और परिणतियाँ होती हैं। एक है जो पकने पर पीव देती है, मवाद देती है। दूसरी है जो

प्रियदर्शी अशोक बना दिया। प्रिया द्वारा आत्मदान करके दिया गया आघात का एक अप्रतिम प्रसाद।

एक सामान्य बटुक की पीठ पर किसी कन्या के अश्रुविन्दु पड़ते हैं। बटुक रोती हुई कन्या से रुदन का कारण पूछता है। वह बतलाती है कि जिस तरह, जिस त्वरा से बौद्धमत का प्रचार-प्रसार हो रहा है, ऐसे में दिव्य बटुकों का दर्शन स्वप्न की बात हो जायेगी। कैसे थे वे आँसू ? कैसा रहा उनका प्रहार, उनका आघात, उनकी दुर्दान्त चोट ! कुमारिल भट्ट ने सौगन्ध लेकर देश से बौद्धमत के मूलोच्छेदन का संकल्प कर लिया।

पति-पत्नी में कहाँ नहीं होती टिन-फुन ? लेकिन कोई घर नहीं छोड़ता। रतना ने आखिर कहा क्या था ? तुलसीदास को इतना बुरा क्यों लगा ? रतना से प्राप्त उद्बोधन आघात का ही प्रसाद है, जो तुलसी युग को प्रदान करते हैं।

सुप्रसिद्ध ज्योतिषी कीरो ने लिखा है कि किसी ने नेपोलियन से कहा, 'तुम्हारे हाथ में भाग्यरेखा है ही नहीं।' उसने कहा बकवास करते हो और हथेली चीरकर भाग्य रेखा बना ली। 'हाथों की इन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बन्दी मानव अपने बल-पौरुष के बल पर अपने भविष्य का निर्माण करो।' ज्योतिषी का कथन नेपोलियन कभी नहीं भूल पाया।

एक बूंद आँसू की ऊष्मा सोद्देश्य जीवन-यापन की प्रेरणा देती है। जो निरुद्देश्य जिया, वस्तुतः जिया ही नहीं। उसके मरने, न मरने का प्रश्न नहीं उठता। और जो सोद्देश्य जीता है, उसे जरा, व्याधि और मृत्यु कभी स्पर्श भी कर पाते हैं ? वही एक बूंद आँसू एक बच्चे को अहिंसा की शक्ति का आभास देता है। पिता की जेब से चन्द सिक्के ही तो चुराये थे। पिता ने चार-छह चाँटे रसीद कर दिये होते, डाँट-डपट की होती तो अपने कर्तव्य की औपचारिकता से मुक्त हो जाते। 'कुकुर की मार अढ़ाई घरी' बच्चों पर भी लागू होती है। पिता ने पत्न पढ़ा और आँखों की कोरों से आँसू छलक आये। निःशब्द आँसू ! परन्तु दर्द बालक के मर्म में उतर गया। पुत्न के पत्न का निवेदन पिता के भीतर जाने क्या पिघला गया ! आँसू का वह प्रहार, वह आघात, वह प्रभाव बालक मोहन के मन में करुणा की, अहिंसा की ऐसी ज्योति जला गया जो जीवन-पर्यन्त उसका पाथेय बनी रही। मोहनदास करमचन्द गांधी से महात्मा गांधी या बापू बनने की यात्ना उस एक बूंद आँसू से शुरू हुई थी।

प्रहार हो, आघात हो या चोट, पकने की दो प्रक्रियाएँ और परिणति होती हैं। एक है जो पकने पर पीव देती है, मवाद देती है। दूसरी है जो

क्रमशः सीझती है, रीझती है, छीजती है, तथापि रसोपलब्ध होती है। एक माधुर्य, एक मार्दव उसकी परिणति होती है। जो रसोपलब्ध होता है, क्रमशः सर्जन के नश्तर की तरह हमारे भीतर गहरे और गहरे उतरता है। जो कुछ अशुभ है, अशिव है, अशोभन है, उसकी काट-छाँट करता है। तब अवतरित होती है प्रहार और आघातों की वह कल्याणी, जो हमारे लिए काम्य है, इष्ट है।

पुरुष पुरातन की वधू

'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय' इस उक्ति को मैं कभी सराह नहीं पाया। लक्ष्मी किसी की नहीं होती है, वह आज यहाँ तो कल वहाँ होती है, यह धारणा मेरे निकट कभी प्रश्रय नहीं पा सकी। अपने यहाँ कुलवधू लक्ष्मी कही जाती है, वह गृहलक्ष्मी होती है। साध्वी, सच्चरित्रा, स्थिरमति। लोग-बाग लक्ष्मी को अपना बनाना चाहते हैं, उनमें कभी उसका होकर रहने का हौसला नहीं उगा। प्रश्न बलाघात का है। वे, जो लक्ष्मी पर एकाधिकार चाहते हैं, मनसा दरिद्र होते हैं। उनके लिए ही कहा गया है 'थोड़े जल मछली बौरानी' अथवा 'क्षुद्र नदी भरि चलि उतरायी।' ऐसे ही लोग जब कभी लखपती हुए तो उन पर कंगलटिर्रई सवार होती है और फलतः वे शीघ्र ही मूँगफली बेचने लगते हैं। अपनी करनी नहीं देखते, लक्ष्मी को चंचला, हरजाई और अस्थिरा कहते हैं। अधिकार-लिप्सा धोखा खाती है, समर्पण नहीं। 'पुरुष-पुरातन' ने तो कभी उसके चंचला किंवा अस्थिरा होने की शिकायत नहीं की। मीराँ 'सूली ऊपर' पिया की सेज देखती हैं और दुविधा में हैं, 'किस विधि मिलणो होय' और प्रेम-विह्वला लक्ष्मी सहस्रफन शेष की शय्या पर प्रिय की अंकशायिनी बनती हैं। वह कमलासना हैं। कमल, जो तटस्थ नहीं होता, आकण्ठ डूबा होता है, तथापि असम्पृक्त। यह तो 'एक आग का दरिया है और डूब के जाना है।' लक्ष्मी का 'पुरुष पुरातन' राजीवलोचन है, करकंज, पदकंज, मुखारविन्द, कमलबदन है। गरज यह कि उनके पोर-पोर में कमलासना लक्ष्मी का वास है।

मुझे याद है, मेरी पत्नी ने जब पहली बार मेरी अम्मा के चरण छुये थे, अम्मा ने आशीर्वाद दिया, 'दूधन नहाव, पूतन फरौ और अपने आदमी के अंग लाग खियाव।' पति के अंग से लगकर खियाना, यह क्या है? भूषण अंग पर पहने-पहने ही घिसता है, टूटता है। यह घिसना ही खियाना है। कुलवधू ही लक्ष्मी है जो अस्थिरा, चंचला नहीं होती। वह अपने प्रिय 'पुरुष पुरातन' के अंग से लगकर खियाती है।

पद्मसम्भवा अथवा यूँ कहें, लक्ष्मी-जन्म की अनेक कथाएँ हैं। विष्णु पुराण के अनुसार लक्ष्मी प्रजापति दक्ष की कन्या हैं, इस प्रकार वह शिव-प्रिया सती

की सगी-सहोदरा बहन हैं। इसी पुराण के अनुसार महर्षि भृगु की पत्नी ख्याति है। ख्याति के गर्भ से धाता, विधाता नामक दो पुत्र और लक्ष्मी नामक एक कन्या हुई थी। दैत्यगुरु शुक्राचार्य महर्षि भृगु के पुत्र होने के नाते लक्ष्मी के भाई होते हैं। लक्ष्मी, नारायण पर अनुरक्त हैं। उन्होंने नारायण को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए सागर-तट पर तपस्या की। इन्द्रादिक देवता विष्णु का रूप धारण कर लक्ष्मी के सामने पधारे। लक्ष्मी ने प्रत्येक से नारायण का विश्व-रूप दिखलाने की प्रार्थना की। किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं थी, किसी में इतनी क्षमता नहीं थी। सभी लज्जित होकर वापस लौट गये। लक्ष्मी की तपस्या उग्र से उग्रतर और उग्रतम होती गयी। नारायण प्रसन्न होकर प्रकट हुए। उन्होंने अपना विश्व-रूप प्रकट किया। लक्ष्मी ने प्रिय के वक्षस्थल पर अपने पिता महर्षि भृगु का चरण-चिह्न देखा। नारायण ने लक्ष्मी का वरण किया। पार्वती ने कैलासवासी शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए कैलास पर तपस्या की तो लक्ष्मी ने सिन्धुशायी नारायण को पाने के लिए सागर-तीर पर तपस्या की। लगता है जैसे एक ने ऊँचाई की पराकाष्ठा प्राप्त करने के लिए तपस्या की तो दूसरी ने गहनता की पराकाष्ठा-प्राप्ति हेतु तप किया। पार्वती की देवताओं ने परीक्षा ली, तो वे लक्ष्मी की परीक्षा लेने से भी बाज नहीं आये और दोनों संदर्भों में उन्हें मुँह की खानी पड़ी।

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के अनुसार दुर्वासा के शाप के कारण लक्ष्मी विलुप्त हो गयी थीं। एक बार एक विद्याधरी ने पारिजात-पुष्पों की एक दिव्य माला रुद्र के अंशावतार महर्षि दुर्वासा को अर्पित की। महर्षि दुर्वासा कुछ दिन उस माला को लिये हुए मगन-मन घूमते रहे। एक दिन ऐरावत पर आसीन देवराज इन्द्र उधर आ निकले। दुर्वासा ने वह माला इन्द्र को दे दी। शचीपति देवराज इन्द्र ने उस माला के प्रति अवमानना दिखलायी और उसे ऐरावत के मस्तक पर डाल दिया। गजराज ऐरावत ने उसे जमीन पर फेंक कर पाँवों तले रौंद दिया। दुर्वासा मारे क्रोध के आगबबूला हो गये। उन्होंने इन्द्र को शाप दिया, "अभिमानी इन्द्र ! तेरी ऐश्वर्य-लक्ष्मी नष्ट हो जाय।" इसके अनन्तर विष्णु की सलाह से देवताओं और दानवों ने सागर-मंथन किया। समुद्र से प्राप्त चौदह विभूतियों में लक्ष्मी भी थीं। लक्ष्मी ने विष्णु का वरण किया। इसी लक्ष्मी की आराधना कर इन्द्र पुनः श्री-सम्पन्न हुए। लक्ष्मी को कहीं 'पद्मसम्भवा', तो कहीं 'सिन्धु-सम्भवा' कहा गया है।

इसी पुराण के अनुसार लक्ष्मी राजा कुशध्वज की पुत्री वेदवती के रूप में अवतीर्ण हुईं। उनके रूप-लावण्य सौंदर्य, प्रकीर्ण यौवन पर आसक्त होकर रावण ने उसे पाने की चेष्टा की, फलतः शाप का भागी हुआ। यही कन्या अगले

जन्म में सीता हुई जो रावण सहित उसके वंश-विनाश का कारण बनी। देवी भागवत उपपुराण में बतलाया गया है कि महारास के अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण के वामांग से भगवती लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। वे द्वादशवर्षीया स्थिर-यौवना हैं।

'मृच्छकटिक' के अमर रचनाकार शूद्रक की उक्ति 'साहसे श्रीः प्रतिवसति' के साथ जब भी मैं भारतीय वाङ्मय के इन शिल्पियों का साक्षात् करता हूँ तो मुझे लगता है, ये सभी हर प्रकार की रुग्ण मानसिकता की ग्रन्थियों से इस कदर मुक्त थे कि इन्होंने परात्पर प्रभु, देवी-देवताओं को भी उनके समस्त दैवी अलौकिक लक्षणों को सुरक्षित रखते हुए, सहज-स्वस्थ मानवीय आचार-व्यवहार के धरातल पर भी ग्रहण किया है।

तंत्र-साहित्य में लक्ष्मी को शक्तिस्वरूपा माना गया है। लक्ष्मी कभी देवराज इन्द्र के साथ संयुक्त हुईं, तो कभी धन के देवता कुबेर के साथ। कुबेर विश्रवा के पुत्र, पहले असुर माने जाते थे, फिर कालान्तर में वे देवताओं में शामिल हो गये। वे यक्षों के अधिपति थे। ऐसे कुबेर के साथ लक्ष्मी का पूजन होता था। लगता है, कालान्तर में कुबेर का स्थान गणाधिपति गणेश ने ग्रहण कर लिया। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही शिवपुत्र गणेश के रूप में अवतीर्ण हुए। कृष्ण विष्णु की सम्पूर्ण सोलह कलाओं से सम्पन्न उनके पूर्णावतार हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से विष्णु ही गणेश हैं। कदाचित् इसी कारण विघ्नहर्ता, विद्यावारिधि, बुद्धिप्रदाता गणेश और धन-धान्य-प्रदायिनी लक्ष्मी की साथ-साथ पूजा की जाती है।

'ऋग्वेद' में लक्ष्मी, वैभव-सम्पदा की अधिष्ठात्री देवी के रूप में, सम्पूज्य नहीं हैं। वे वहाँ तेज, कान्ति एवं सुषमा आदि की प्रतीक हैं। ऋग्वेद में लक्ष्मी का वाच्यार्थ मांगल्यसूचक है। 'सामवेद' में भी लक्ष्मी का यही स्वरूप रूपायित है, किन्तु 'अथर्ववेद' तक आते-आते लक्ष्मी श्री-स्वरूप, सम्पत्ति, बुद्धि, ऐश्वर्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगीं। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी श्री एक परम सुन्दरी देवी के रूप में प्रस्तुत है। प्रजापति अपने तप से इस सुन्दरी को उसी प्रकार प्रकट करते हैं, जैसे ग्रीक देवता जीयस अपने मस्तक से पालन एथेनी को प्रकट करते हैं। 'जैमिनी ब्राह्मण' में श्री और अन्न को पर्याय कहा गया है।

अवेस्ता में श्री श्रीर-रूप में व्यवहृत है। श्रीर वह सुन्दरी है जिसके शरीर से सुगन्धमय सुरा प्रवाहित होती रहती है। यह ध्यातव्य है कि अवेस्ता में श्रीर के शरीर से सुरा प्रवहमान है तो भारतीय पुराण के अनुसार वारुणी भी लक्ष्मी की ही भाँति सिन्धुजा है। श्रीर की बाँहें गौरवर्णा हैं। अवेस्ता में श्रीर के एक हाथ में धान का भुट्टा है तो भारतीय लक्ष्मी के हाथ में कमल-पुष्प है।

मूर्तिकारों को भी लक्ष्मी के रूप-लावण्य सौन्दर्य ने आकृष्ट किया है। उन्होंने पाषाण में सौन्दर्य छंद की अवतारणा की। लक्ष्मी की अनेक प्रतिमाओं में साँची के स्तूपों पर भरहुत में लक्ष्मी की प्रतिमा अप्रतिम है। यह सर्वदायिनी माता का स्वरूप है। लक्ष्मी का यह स्वरूप सर्वप्रथम गंधार देश (काबुल) में मिला था। लक्ष्मी का वाहन उलूक है। भारत में उलूक मूर्खता का प्रतीक माना गया है। पश्चिम में उलूक बुद्धिमानी का प्रतीक है। उलूकवाहिनी लक्ष्मी का वाहन अमोघ तिमिरभेदी दृष्टि रखता है।

'सूर्य सिद्धान्त' के अनुसार कर्क मास (जुलाई-अगस्त) केरल के लोगों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण मास है, क्योंकि यह सारा-का-सारा महीना लक्ष्मी-पूजन का महीना होता है, वह पूर्णरूपेण लक्ष्मी-पूजन के लिए समर्पित होता है। 'बौद्ध जातक' में लक्ष्मी को पूर्व दिशा की अधिष्ठात्री देवी मान लेने के बाद भी उन्हें उपालम्भ दिया गया है कि वे मूर्खों और विद्वानों में भेद नहीं करतीं और मूर्ख कहे जाने वाले लोगों पर प्रायः विद्वानों की अपेक्षा अधिक कृपालु होती हैं।

जैन साहित्य में सर्वप्रथम श्री के अभिषेक का दर्शन हमें चौबीसवें तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर स्वामी की माता त्रिशला के स्वप्न में होता है। वहाँ जो स्वप्न प्राप्त होता है, वह गज-लक्ष्मी का है। इसमें दोनों ओर से गज भगवती लक्ष्मी को स्नान करा रहे हैं और एक सरोवर में देवी महालक्ष्मी एक पद्म पर स्थित हैं। इस स्वप्न को भगवान् महावीर स्वामी के आगमन का सूचक माना गया है। जैन धर्मावलम्बी पूर्णकलश अथवा 'पुन्नकलस' में भी लक्ष्मी का वास मानते हैं। इस कारण वे इस पर भी दो आँखें अंकित करते हैं।

यह एक अत्यन्त सुखद आश्चर्य की बात है कि भारत के जिस प्राचीनतम सिक्के पर लक्ष्मी का अंकन उपलब्ध हुआ है, वह एक विदेशी शक शासक था। आज शक सम्वत् हमारा राष्ट्रीय सम्वत् माना जाता है। उन दिनों शकों को विदेशी ही माना जाता रहा। उस शक शासक का नाम आयलिस था जिसे लोग अजिलाइसिस भी कहते हैं। अनुमानतः इसका समय ईसापूर्व पहली शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। उसके सिक्कों पर गज-लक्ष्मी अंकित हैं। यह एक आश्चर्यजनक सुखद संयोग है कि भारतीय सिक्कों पर देवी लक्ष्मी का अंकन कराने वाला अन्तिम शासक मुहम्मद बिन साम था जो मुहम्मद गोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उसके सिक्कों पर पद्मासन लगाये भगवती लक्ष्मी विराजमान हैं। सिक्के की दूसरी ओर नागरी अक्षरों में उसका नाम अंकित है।

दानवों का अनाचार बढ़ता देख अवधूत भगवान् दत्तात्रेय ने भगवती लक्ष्मी से कहा, "दानव इसी ओर आ रहे हैं; तुम भुवन-विमोहन रूप धारण कर मेरे वामांग में स्थान ग्रहण करो। यदि दानव तुम्हें ले जाना चाहें, तो तुम उनके साथ

बिना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये चली जाना।' दानव आये और जैसी कि अपेक्षा थी, लक्ष्मी को देखकर मुग्ध हो गये। वे लक्ष्मी को कन्धे पर बिठाकर उन्मत्त से नाचते-गाते आगे बढ़ गये। इसके पश्चात् भगवान् दत्तात्रेय ने देवताओं को बुलाकर कहा, "परदारा-आसक्ति के कारण सभी दानव तेज-बलहीन हो गये हैं, अब उनको सरलता से पराभूत किया जा सकता है।" देवताओं ने सहज ही दानवों को गाजर-मूली की तरह काट कर फेंक दिया।

लक्ष्मी कन्दर्प-माता हैं, इस रूप में उनके हाथ में मकर का चिह्न होता है। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री यूनानी देवी वीनस, यूनानी कामदेवता क्यूपिड की माँ है। भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मिणी भी लक्ष्मी ही है। भगवान् भूत-भावन महादेव की क्रोधाग्नि से भस्म हुए कामदेव, जो अनंग हो चुके थे, ने उन्हीं के वरदान से कालान्तर में रुक्मिणी के गर्भ से कृष्ण-तनय प्रद्युम्न के नाम से अवतार लिया था। विष्णु पुराण के कथनानुसार देव, तिर्यक और मनुष्य आदि में जो कुछ स्त्रीवाची है, वह लक्ष्मी है और जो कुछ पुरुषवाची है, वह हरि है। इनसे परे कुछ नहीं है।

एक बार भगवान् विष्णु अपनी प्रिया लक्ष्मी से अप्रसन्न हो गये। लक्ष्मी जी ने लाख जतन किया, मगर विष्णु प्रसन्न नहीं हुए। अन्ततः हार कर लक्ष्मी जी अशरण शरण भगवान् आशुतोष की शरण गयीं। उन्होंने कठोरतम तपस्या की, भगवान् महादेव शंकर प्रकट हो गये। शंकर जी की संस्तुति से भगवान् विष्णु लक्ष्मी पर प्रसन्न हो गये। शंकर जी ने कहा, "देवि, आपकी अंगशोभा संसार में विल्वफल बनकर रहेगी। नर-नारी जो भी विल्वपत्र अर्पित कर मेरी पूजा करेंगे, उन्हे वांछित फल प्राप्त होगा।" विल्वफल की अभ्यर्थना में कहा गया है, "सूर्य-सदृश कान्ति वाली लक्ष्मी जी, आपके तप से बिना पुष्प के फल देने वाला एक वृक्ष-विशेष उत्पन्न हुआ। तदनन्तर आपके द्वारा विल्ववृक्ष की उत्पत्ति हुई। यह विल्ववृक्ष मेरे भीतर और मेरे बाहर की दरिद्रता को दूर करे।"

एक अत्यन्त रोचक प्रसंग है। एक बार विष्णु-प्रिया लक्ष्मी और शिव-वल्लभा पार्वती में सीमा-विवाद छिड़ गया। विष्णु और शिव अपनी अभिन्नता सिद्ध करने के लिए संयुक्त हो गये। इस हरि-हर रूप को देखकर लक्ष्मी जी ने कहा कि हर-कण्ठ की नीलिमा, उनके प्रिय हरि की देह-नीलिमा है, इस कारण नीलकण्ठ पर पार्वती का नहीं, वरन् उनका अपना अधिकार है। फिर क्या था, पार्वती जी ने दावा किया कि हरि की देह की नीलिमा वस्तुतः उनके अपने हर के कण्ठ की नीलिमा का विस्तार है। अस्तु, हरि की सम्पूर्ण देह पर लक्ष्मी का नहीं, वरन् उनका अपना अधिकार है। मरता क्या न करता, हार कर, लक्ष्मी जी

बिना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये चली जाना।' दानव आये और जैसी कि अपेक्षा थी, लक्ष्मी को देखकर मुग्ध हो गये। वे लक्ष्मी को कन्धे पर बिठाकर उन्मत्त से नाचते-गाते आगे बढ़ गये। इसके पश्चात् भगवान् दत्तात्रेय ने देवताओं को बुलाकर कहा, "परदारा-आसक्ति के कारण सभी दानव तेज-बलहीन हो गये हैं, अब उनको सरलता से पराभूत किया जा सकता है।" देवताओं ने सहज ही दानवों को गाजर-मूली की तरह काट कर फेंक दिया।

लक्ष्मी कन्दर्प-माता हैं, इस रूप में उनके हाथ में मकर का चिह्न होता है। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री यूनानी देवी वीनस, यूनानी कामदेवता क्यूपिड की माँ है। भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मिणी भी लक्ष्मी ही है। भगवान् भूत-भावन महादेव की क्रोधाग्नि से भस्म हुए कामदेव, जो अनंग हो चुके थे, ने उन्हीं के वरदान से कालान्तर में रुक्मिणी के गर्भ से कृष्ण-तनय प्रद्युम्न के नाम से अवतार लिया था। विष्णु पुराण के कथनानुसार देव, तिर्यक और मनुष्य आदि में जो कुछ स्त्रीवाची है, वह लक्ष्मी है और जो कुछ पुरुषवाची है, वह हरि है। इनसे परे कुछ नहीं है।

एक बार भगवान् विष्णु अपनी प्रिया लक्ष्मी से अप्रसन्न हो गये। लक्ष्मी जी ने लाख जतन किया, मगर विष्णु प्रसन्न नहीं हुए। अन्ततः हार कर लक्ष्मी जी अशरण शरण भगवान् आशुतोष की शरण गयीं। उन्होंने कठोरतम तपस्या की, भगवान् महादेव शंकर प्रकट हो गये। शंकर जी की संस्तुति से भगवान् विष्णु लक्ष्मी पर प्रसन्न हो गये। शंकर जी ने कहा, "देवि, आपकी अंगशोभा संसार में विल्वफल बनकर रहेगी। नर-नारी जो भी विल्वपत्र अर्पित कर मेरी पूजा करेंगे, उन्हे वांछित फल प्राप्त होगा।" विल्वफल की अभ्यर्थना में कहा गया है, "सूर्य-सदृश कान्ति वाली लक्ष्मी जी, आपके तप से बिना पुष्प के फल देने वाला एक वृक्ष-विशेष उत्पन्न हुआ। तदनन्तर आपके द्वारा विल्ववृक्ष की उत्पत्ति हुई। यह विल्ववृक्ष मेरे भीतर और मेरे बाहर की दरिद्रता को दूर करे।"

एक अत्यन्त रोचक प्रसंग है। एक बार विष्णु-प्रिया लक्ष्मी और शिव-वल्लभा पार्वती में सीमा-विवाद छिड़ गया। विष्णु और शिव अपनी अभिन्नता सिद्ध करने के लिए संयुक्त हो गये। इस हरि-हर रूप को देखकर लक्ष्मी जी ने कहा कि हर-कण्ठ की नीलिमा, उनके प्रिय हरि की देह-नीलिमा है, इस कारण नीलकण्ठ पर पार्वती का नहीं, वरन् उनका अपना अधिकार है। फिर क्या था, पार्वती जी ने दावा किया कि हरि की देह की नीलिमा वस्तुतः उनके अपने हर के कण्ठ की नीलिमा का विस्तार है। अस्तु, हरि की सम्पूर्ण देह पर लक्ष्मी का नहीं, वरन् उनका अपना अधिकार है। मरता क्या न करता, हार कर, लक्ष्मी जी

को अपना दावा वापस लेना पड़ा। इधर हरि और हर उन दोनों के विवाद पर मुस्कराते रहे।

एक सरल, तरल और ऋजु लक्ष्मी-स्तवन है। शेषनाग के सहस्रफन-मणियों में विदित अपनी ही प्रतिच्छवियों से लक्ष्मी जी, भगवान् की निद्रा भंग कर पूछती हैं, "अनन्य मन से आपका चिन्तन-मनन करने वाली, सदैव आपके वक्षस्थल पर तुलसी-वनमाल किंवा कौस्तुभ मणि की भाँति स्थित रहने वाली और आपकी भक्ति से ओतप्रोत मेरा भी अनादर कर आपका यह सहस्रकान्ता-समागम क्या उचित है?" फिर दूसरे ही क्षण अपने प्रतिबिम्बों को पहचान कर वे लज्जित हुईं। भगवान् विष्णु की निद्रा भंग करने वाली उनकी प्राणवल्लभा लक्ष्मी जी की वह लज्जालु मुस्कान आपकी और हमारी रक्षा करे।

महाभारत के शान्ति-पर्व में एक प्रसंग है जिसका आशय है कि शील में ही लक्ष्मी का निवास होता है। देवगुरु वृहस्पति की सलाह पर विप्र-वेशधारी इन्द्र ने छलपूर्वक दानवेन्द्र प्रह्लाद से उनका वह शील माँग लिया। इसी शील के बल पर भक्तप्रवर प्रह्लाद तीनों लोकों पर शासन करते थे। परम उदार प्रह्लाद ने अपना शील दान कर दिया। शील के जाते ही क्रमशः धर्म, सत्य, सुरुचि, शक्ति और अन्त में लक्ष्मी ने भी उनका साथ छोड़ दिया और वे श्रीहत-तेजहीन गये।

शरणागत को शरण देने के आग्रही एक ब्राह्मण ने जब अलक्ष्मी को शरण दी तो सौभाग्य लक्ष्मी, यश लक्ष्मी, कुल लक्ष्मी सभी ने क्रमशः उस ब्राह्मण का साथ छोड़ दिया। सभी को प्रणाम कर ब्राह्मण ने विदा किया। परन्तु जब धर्म भी उसका साथ छोड़ने को तत्पर हुआ तो ब्राह्मण ने उसके चरण पकड़ लिये, "आपके बिना तो मैं जी नहीं सकूँगा।" धर्म को ब्राह्मण के आग्रह पर रुकना पड़ा। धर्म के रुकते ही अलक्ष्मी को जाना पड़ा। वह स्वेच्छया चली गयी। इस दृष्टान्त में धर्म को लक्ष्मी का निवास बतलाया गया है।

लक्ष्मी-मन्दिर के द्वार पर एक दुराग्रही केवल अपनी आसक्तिपूर्ण अनुरक्ति और कातर-दीन-दयनीय निवेदन के बल पर लक्ष्मी की कृपा प्राप्त करना चाहता था। असफल होने पर वह लक्ष्मी-प्रतिमा को ही खण्ड-खण्ड कर देने को उद्यत हो गया। तब लक्ष्मी ने प्रकट होकर कहा, "मैं किसी के पास नहीं जाती, मुझे बलपूर्वक जीतकर लाया जाता है। न मैं प्रसन्न होकर वरदान देती हूँ और न मैं बाधा देती हूँ और न व्यवधान पैदा कर रोकती हूँ। मैं कृपा, अनुग्रह और अनुकम्पा पर विश्वास नहीं करती। 'उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी' की उक्ति सुनी होगी। जिसमें पौरुष, सामर्थ्य, पराक्रम और क्षमता होती है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है। वह, जो सशक्त है, वही मुझे पाता है।"

चक्रवर्ती सम्राट् रघु और ऋषि प्रवर वरतन्तु के शिष्य कौत्स के प्रसंग को एक अन्य चक्रवर्ती ने (मेरा संकेत चक्रवर्ती श्री राज गोपालाचारी की ओर है) अपनी प्राणद लेखनी के संस्पर्श से विलक्षण बना दिया है। सर्वस्व दान कर देने के उपरान्त आश्विन के रिक्त बादल से सम्राट् रघु के पास गुरुदक्षिणा की राशि पाने की अपेक्षा से कौत्स पधारे। उनकी स्थिति देखकर कौत्स को संकोच हुआ। सम्राट् रघु ने धन के देवता कुबेर पर आक्रमण कर ऋषि कौत्स की याचना को तृप्त करने का निश्चय किया और कौत्स को आश्वस्त किया। उनके कोष में स्वयं कुबेर ने स्वर्ण वर्षा कर दी। रघु ऋषि कौत्स को वह समस्त सुवर्ण-राशि अर्पित करने को प्रस्तुत हैं। इधर अपरिग्रही कौत्स अपनी आवश्यकता से अधिक एक कौड़ी भी लेने को तैयार नहीं हैं। सम्राट् रघु का आग्रह है, यह धन आपके निमित्त ही आया है यह मेरे किस काम का है। इन्द्रलोक में दो महान् अलौकिक विभूतियों का असंग भाव, अलोभ और अपरिग्रह की यह होड़ देखकर सर्वशक्तिमान् सर्वदा-सदैव गतिमान महाकाल भी क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गया। वह अपनी बीतने की प्रकृति ही भूल गया। शेषशायी नारायण और लक्ष्मी रघु की यज्ञशाला में प्रकट हो गये। उन्होंने अपनी परम आह्लादिनी मुद्रा में कहा, "राजन्! आज से तुम तीनों लोकों की श्री-सम्पदा के अधिकारी हुए। परम पुरुषार्थ-सामर्थ्य-क्षमता-सम्पन्न व्यक्ति जब अनासक्त हो, परमार्थ-प्रेरित चुनौती देता है, तब उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता। त्याग कर जो भोगता है, उसका कोष मैं कभी दीन, शेष नहीं होने देती। वह जो परम रिक्त स्थिति में भी यज्ञार्थ लोकजीवन के संचालनार्थ सम्पत्ति और साधन जुटाने में अपने समस्त प्रकीर्ण पौरुष एवं ज्वलन्त पराक्रम को लगा देता है, विष्णु के ऐसे पर्याय और प्रतीक को छोड़कर आखिर लक्ष्मी जा भी कहाँ सकती है?"

वह क्षण कितना दुर्भाग्यपूर्ण रहा होगा जब हमारे देश के मानस पर दारिद्र्य अथवा दरिद्रता को महिमा-गरिमा-मण्डिता कर एक आदर्श स्थिति के रूप में ग्रहण करने का दौरा पड़ा होगा। साधनों के अभाव में बाह्य दारिद्र्य एक बार समझ में आता है, लेकिन तबीयत की दरिद्रता जो हमारी आत्मा के इस्पात में सीलन बनकर जमकर मोर्चा लगा जाय, आत्मा की तेजस्विता ही मलिन हो जाय, यह स्थिति मुझे एक क्षण के लिए भी सह्य नहीं है। दरिद्र के प्रति सहानुभूति, मानवीय करुणा और संवेदना के धरातल पर उसकी तकलीफों में हाथ बँटाना एक बात है, लेकिन जब हमने लक्ष्मी नारायण के स्थान पर दरिद्र नारायण की स्थापना की, उसे महिमा और गरिमा प्रदान की तो हमारे मन में दारिद्र्य कहीं कुण्डली मारकर बैठ गया। 'बाम्हन के धन केवल भिक्षा' की जहनियत हमारी तेजस्विता, हमारी प्रखरता को डस गयी। 'संतोष-धन' यदि पराभूत विवश मानसिकता की

उपज है तो वह कतई वरेण्य नहीं हो सकती। उसे हमारे भीतर की सम्पन्नता, सम्पदा से उपजना चाहिए।

ब्रह्मपुराण का यह प्रसंग इस दृष्टि से ध्यातव्य है। दारिद्र्य की वकालत करता हुआ एक ब्राह्मण लक्ष्मी से कहता है, "दरिद्रता में काम, क्रोध, मद, लोभ और मात्सर्य नहीं होता। उसमें धन का उन्माद नहीं होता, उसमें ईर्ष्या नहीं होती, वह सात्विक होती है, क्योंकि वह सत्त्वगुण प्रधान होती है। उसका चित्त बड़ा शान्त होता है। इस प्रकार वह भगवत-कृपा की अधिकारिणी होती है।"

उपर्युक्त धारणा के समक्ष ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सौ पचपनवें सूक्त में दारिद्र्य के प्रति एक वरेण्य पौरुषेय अमर्ष लक्षित होता है, "हे दरिद्रे ! आज मैं तुम्हारी महिमा का स्मरण कर रहा हूँ। तुम कितनी दान-विरोधिनी, दाक्षिण्य-व्याघातिनी, कुशब्द-भाषिणी, विद्रूपा तथा क्रोधकामा हो। किन्तु मैं तुमसे परास्त होने वाला नहीं। मैं निश्चय ही ऐसा उपाय करूँगा जिससे तुम्हारे नागपाश से मुक्त हो जाऊँ।" मैं भगवती माता लक्ष्मी से प्रार्थना करता हूँ। हे माँ, मेरा देश ब्रह्मपुराण के उस ब्राह्मण की रुग्ण मानसिकता से मुक्त हो जिसने दरिद्रता को महिमामयी, गरिमामयी बतलाया है और उसकी जगह पौरुष, पराक्रम, उद्यम प्रेरित ऐसा सात्विक अमर्ष उगे, ऐसा संकल्प उद्भूत हो जिसके अन्तर्गत आचरण कर वह दारिद्र्य के नागपाश से मुक्त हो सके।

●

११. सुबह रक्त पलाश की [नवगीत-संग्रह; उ०प्र० सरकार द्वारा विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित]

१२. ऊट-पटांग [उ० प्र० सरकार द्वारा विशिष्ट बाल-साहित्य पुरस्कार से सम्मानित]

१३. एक चावल नेह रींधा [गीत-संग्रह]

१४. साहित्य महोदधि का चयन [हास्य-व्यंग्य कथा-वार्ता]

१५. राघव-राग [रामकथा-सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह]

१६. गंगा : एक अविराम संकीर्तन [ललित निबन्धों का संग्रह; उ० प्र० सरकार द्वारा विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित]

इसके अतिरिक्त २६ बालोपयोगी पुस्तकें

निधन—११ नवम्बर, १९८२